

काशिका

हिन्दी विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी

सम्पादक
डॉ. शिवप्रसाद सिंह

काशिका

संपादक

डा० शिवप्रसाद सिंह
प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी



विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी के लिए
विभागीय सहयोग से विश्वविद्यालय प्रकाशन,
चौक, वाराणसी द्वारा प्रकाशित
१९८७

मुद्रक
शीला प्रिण्टर्स, लहरतारा, वाराणसी

अनुक्रम

सम्पादकीय

नई समीक्षा : बैसाखियों पर

हर युग में, किसी भी विधा और उसकी समीक्षा के 'जार्गन्स' होते हैं यानी तथाकथित रंग बिरंगी वैसाखियाँ जिनका सहारा लिये बिना समीक्षा की गत्वरता सन्देहास्पद हो जाती है। आजकल हिन्दी समीक्षा में प्रचलित पारिभाषिक शब्दों या उनके हिन्दी अनुवादों को देखें तो स्थिति और भी स्पष्ट हो जायेगी। शिप्ले डिक्शनरी के पारिभाषिक शब्दों को कौन नहीं जानता। शिप्ले केवल बीज शब्द ही नहीं बल्कि अंग्रेजी साहित्य में उस शब्द के प्रयोग-विकास और ठोस आधार पर उसकी परंपरा का विवरण भी देता है। उसके साहित्यिक शब्द संदर्भित पुस्तकों के अध्ययन ईमानदारी के साथ किया गया महत्त्वपूर्ण कार्य है। आज का समीक्षक विदेशी समीक्षा पर आधारित या आयातित माल की खपत कर रहा है तो मेरे जैसे लोग उसका विरोध नहीं कर सकते; क्योंकि हम अरस्तू से लेकर कम से कम टी० एस० ईलियट तक तो कक्षाओं में पढ़ाते ही रहते हैं। यह एक ओर हमारी आज की रचना और समीक्षा में आवश्यक सम्बन्धों की माँग है तो दूसरी ओर नये साहित्य के लिए नये प्रतिमानों की खोज स्वयं में एक ईमानदार समीक्षक की जिम्मेदारी भी है।

आज की स्थिति में उसकी धारणाओं का विवेचन किया जाय तो स्पष्ट मालूम हो जायेगा कि व्यक्ति की सत्ता को मिटाकर समूह की सत्ता को प्रतिष्ठापित करनेवाले की दृष्टि में क्या अन्तर होता है। सम्पादक शान्ताल माउफे अपनी सम्पादित कृति ग्रामची एवं मार्क्सवादी चिन्तन (ग्रामची एण्ड मार्कसिस्ट थीयरी) की भूमिका में लिखता है—"ग्रामची का सर्वाधिक महत्त्व इस बात पर है कि वह महत्त्वपूर्ण सुप्रा (स्ट्रक्चरल यानी भाषा और और साहित्य के बँधे ढाँचे) को जो सामाजिक परिवर्तनों के बावजूद सर्वोपरि आच्छादक पदार्थ माने जाते थे जिसे मार्क्स एवं लेनिन तक इसी रूप में ढोते रहे, खंडित कर देता है।" ग्रामची का पहला योगदान है, आर्थिक अनिवार्यता और सपनों के एकांगी शासन को, जो क्रमशः मार्क्स और लेनिन की देन है, तोड़ना और उसके स्थान पर मानव की इच्छाशक्ति और आन्तरिक विचारधाराओं का विकास करना। यह योरोपीय साम्यवाद य(ू रोकम्यूनिज्म) रूसी

साम्यवाद से अलग है। इसमें हम सार्त्र जैसे चिन्तकों की परम्परा का विकास कह सकते हैं जो व्यक्तिगत प्रतिवद्धता को असीम सक्रियता में खोजना चाहते हैं।

जब राजनीति की तरह साहित्य के क्षेत्र में भी साजिशें होती हैं तो इसका बड़ा गंभीर अंजाम होता है। आचार्य द्विवेदी जैसे महापुरुष को शुक्लजी के समानान्तर अथवा श्रेष्ठ कहने के लिए दूसरी परम्परा की खोज करना व्यर्थ था। असल में ऊपर-ऊपर से तो लगता है कि शुक्लजी से वड़ी लकीर खींची जा रही है। पर यथार्थ में यह शुक्लजी की लकीर को मिटाकर छोटी करने का प्रयत्न था। जिस आदमी ने खुले आम स्वीकार किया कि आचार्य शुक्ल हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ आलोचक हैं, दूसरी भारतीय भाषाओं में इस तरह का आलोचक हुआ या नहीं, जहाँ तक मैं जानता हूँ, नहीं हुआ। अब इस कथन को डस्टर रगड़कर साफ करने की कोशिश ही घिनौना छद्म था। दाम्भिक व्यक्ति की सहानुभूति के पीछे कौन-कौन से संकल्प छिपे होते हैं इन्हें जानना तब तक संभव नहीं जब तक उसके साहित्यिक व्यक्तित्व की जाँच नहीं हो जाती। आचार्य शुक्ल के खिलाफ थे, आचार्य वाजपेयी। उन्होंने नागरीप्रचारिणी सभा की हीरक जयन्ती पर अपने प्रकाशित निबन्ध में लिखा "यह प्रसन्नता की बात है कि हजारीप्रसाद द्विवेदी और माताप्रसाद गुप्त जैसे लोग पाठालोचन से समीक्षा के बीच उछल-कुछल बन्द कर रहे हैं।"

हिन्दी की समीक्षा आज एक ऐसे पड़ाव पर पहुँची है, जहाँ खड़े होकर हम अपनी पूर्ववर्ती समीक्षा या भविष्यत् समीक्षा का आकलन कर सकते हैं, यह बहुत जरूरी भी है। संस्कृत काव्यशास्त्र अथवा उसकी नकल पर निर्मित रीतिकालीन समीक्षाशास्त्र आज बेकार हो चुके हैं। पूरी परम्परा की उपलब्धि ढूँढ़ते समय हम पृष्ठभूमि में स्थित काव्यशास्त्रों का लेखा-जोखा कर सकते हैं। पर मेरा यह कथन अगर अतिवादी न माना जाय तो सही प्रतीत होगा कि संस्कृत के रसवादी समीक्षाशास्त्र को छोड़कर शेष सम्प्रदायों का समीक्षा सिद्धान्त यें आज के उलझे संक्रमणकाल से गुजरते साहित्य के पदनिक्षेपों को माँपने में कोई सहायता नहीं देता। हम, यह कहना निर्विवाद सत्य मानते हैं कि न केवल कथा-साहित्य को स्पष्ट करने में आज की समीक्षा एकदम अक्षम और व्यर्थ साबित हुई है बल्कि नई कविता की व्याख्या के लिए भी प्राचीन परम्परावद्ध समीक्षायें व्यर्थ का बोझ लगती हैं। छायावाद में अलंकार ढूँढ़ना, प्रबंध काव्य के तत्त्वों को कामायनी के मूल्यांकन के सम्बन्ध में आवश्यक समझना, प्रगतिवादी साहित्य में नवगीत के तत्त्व खोजना, सप्तकों के लिए टी० एस०

इलियट का नाम लिये बिना ठोस आधार का अभाव कहना यह सब रूढ़ियाँ हैं। राजशेखर की काव्यरूढ़ियों और कवि-समयों की ही तरह नये साहित्य के लिए कुछ ऐसे मानदण्डों का निर्धारण करना जो रचना में निहित न होकर रचनाकार की मानसिक बनावट में निहित होते हैं। पश्चिमी या अमरीकी समीक्षा से उधार लिये गये बटखरों पर आज के साहित्य को तौलना एक बेईमानी और अश्लील प्रयत्न माना जाना चाहिये।

आज की समीक्षा के जार्गन स्वयं बता देंगे कि ये चीजें कहाँ से उठाई जा रही हैं। कृपया समीक्षक क्षमा करें, नई समीक्षा के बीज शब्द 'की वर्ड्स' (रायमण्ड विलियम्स) अथवा शिप्ले की साहित्य विषयक पारिभाषिक शब्दावली, शैली विज्ञान या रीति विज्ञान (स्टाइलिस्टिक्स, अमेरीकी-रूसी) वह कहानी में सपाट भाषा और विशेषण विहीन जुबान की पैरवी करते हुए अस्तित्ववादी 'जार्गन्स' को रचना की उपलब्धि कहना। रोमैंटिसिज्म को आउट आफ डेट कहना, जबकि गोर्की स्वयं राष्ट्रीय स्वच्छन्दतावाद को बहुत महत्त्वपूर्ण मानता था। प्रकृति के भीतर डूबकर जीवन के यथार्थ को ढूंढ़नेवाली भावभूमि को (नास्टेल-जिया) कहना, इस बात का सबूत है कि लोग लता-पौधे ही नहीं पुराना से पुराना धौलागिरि उठाकर ले आ रहे हैं और निर्दोष रचनाकारों पर उन्हे पटक देते हैं। रूपनारायण त्रिपाठी ने किसी जमाने में इस तरह की किमियागिरी पर लिखा था, "कवितौ मैं ऊब चला लाग हनुमानवाद" समीक्षा का यह हनुमानवाद कम चिन्ता का विषय नहीं है।

रीतिविज्ञान का बहुत होहल्ला है। लोग काव्यभाषा अथवा कथाभाषा के अध्ययन के लिए इसे अतिशय महत्त्व दे रहे हैं, उनका कहना है—यह बहुत स्पष्ट है और मैंने बार-बार कहा है कि ऐसा कोई एक भाषा-विज्ञान नहीं है जो सभी प्रकार की रचनाओं के विश्लेषण के लिए काफी हो। प्रतिमानों की प्रासंगिकता को चुनौती हैं किसी एक प्रकार के सर्वांगीण प्रतिमान के अभाव के अपने फायदे भी हैं (लैंग्वेज आफ लिटरेचर, पृ० ४६) रोजर पाउलर की यह आस्था ध्वस्त हो जाती, अगर उनके सामने पिछले तीस वर्षों की हिन्दी समीक्षा के प्रतिमान होते। कविता के नये प्रतिमान अथवा नये प्रतिमान और कविता दोनों ही एक ऐसे चौखटे का निर्माण करते हैं, जो तस्वीर के चारों ओर फिट हो सकें, पर हमें ऐसे सार्वजनिक प्रतिमान चाहिए जो आवश्यक होने पर और महान रचनाकार के अवतरण पर अपने चौखटे बदलने के लिए विवश हो जायें। जो चौखटा प्रसाद, पंत, महादेवी के लिए बनाया

गया उसमें निराला फिट हुए ? सब जानते हैं कि निराला के हिसाब से प्रतिमानों का नया चौखटा बनाना अनिवार्य था। जब तक अमेरिकी या रूसी समीक्षक का सन्दर्भ न हो तब तक बड़ी से बड़ी बात भी शैलीविज्ञान वालों के गले के नीचे नहीं उतरती। क्या कारण है कि एक भी शैली वैज्ञानिक तुलसी या सूर पर इस तरह के अध्ययन की परीक्षा देकर इसकी वैज्ञानिकता का आधार प्रस्तुत नहीं करता, न हमने सायण को देखा न तो मल्लिनाथ को। क्या विश्व का सबसे प्राचीन शैली विज्ञाता सायण नहीं है ? क्या स्वर्णयुगीन संस्कृत साहित्य के अद्वितीय टीकाकार मल्लिनाथ की बराबरी कोई कर सकता है ?

वस्तुवादी समीक्षा के निर्माता शुक्लजी के अपने पूर्वग्रह थे। तुलसी के चौखटे में कबीर फिट नहीं होंगे, इसीलिए साहित्येतर शब्द द्वारा कबीर को दायें बायें घसकने के लिए उन्होंने मजबूर किया। पंत उनके प्रिय सिर्फ इसलिए थे कि उन्होंने अपने चतुर्दिक् विस्तृत प्रकृति को जीवन्तता के साथ उपस्थित करने का प्रयत्न किया, किन्तु इसी प्रकार के प्राकृतिक चित्रणों के आधार पर उन्होंने कभी भी तुलसी को कसने का प्रयत्न नहीं किया। हाँ यह सच है कि उन्होंने पूरे इतिहास में सर्वत्र वस्तुवाद को रेखांकित किया, यथार्थ को स्वीकार किया, उसका वरण किया; पर क्या कारण था कि प्रेमचन्द जैसे कथाकार पर केवल एक वाक्य लिखकर उन्होंने अपने लौह जबड़े में कस दिया। उनके पूरे इतिहास में जाति के आधार पर रचनाकारों को सम्बोधित करनेवाले लहजे हैं जैसे—पण्डित सुमित्रानंदन पन्त, पण्डित सूर्यकान्त त्रिपाठी, बाबू जयशंकर प्रसाद, ठा० गोपाल शरण सिंह, जैसे पूर्व सम्बोधन उनके चरित्र को इस तरह के उखड़े चित्रों से ढाँप देते हैं, जिसे वस्तुवादी को मानने में तो आपत्ति नहीं है, किन्तु ये चीजें उस सोच को जन्म देती हैं जो उनके जैसे सिद्ध पुरुष के व्यक्तित्व को हलका बनाती हैं। वे रहस्यवाद के विरोधी थे, यह कहना अनावश्यक पुनरुक्ति होगी। रहस्यवाद के चलते कबीर खारिज हुए, महादेवी खारिज हुईं, किन्तु स्वर्णधूलि से लेकर उत्तरा तक अरविन्दीय प्रभामण्डल किसी रहस्यवाद से कम वायवी नहीं था। अतिक्रान्त करनेवाली चैतन्य सत्ता में शुक्लजी का विश्वास नहीं था, यह कहना तो उनके लिए उचित नहीं होगा क्योंकि रानाडे जैसे विचारक ईश्वरीय स्तुति या प्रेरणा से लिखे गये सम्पूर्ण काव्य को रहस्यवादी मानते हैं। क्या तुलसी में रहस्यवाद नहीं है, उन्हीं अर्थों में जिन्हें रानाडे ने रेखांकित किया है। नाथ सिद्ध बौद्ध कापालिक जैन मर्मी सभी उनके लिए त्याज्य थे; क्योंकि वे मर्यादाहीन जीवन की वकालत करते थे।

कबीर से कम रहस्यवादी जायसी नहीं थे, बल्कि ज्यादा ही। क्योंकि सूफी विचारकों की एक लम्बी परम्परा की विरासत लेकर मलिक मुहम्मद के पूर्वज जायस में आकर बसे और आबाद हुए। उन्होंने प्रिया की आँख में अपने इष्ट को देखा, जगत को देखा, सारा कुछ सोना ही सोना था। तो इसे हिन्दू हृदय और मुस्लिम हृदय की कटुता का अभाव कैसे मान लिया जाय। क्या अलाउद्दीन को सर्वत्र सूर्य नहीं कहा गया है, क्या दर्पण में पद्मिनी को देखकर जायसी का सूर या सुरू (अलाउद्दीन) विश्वासघात नहीं करता! वस्तुतः पद्मावत अगर महाकाव्य न होता तो शुक्लजी उसे वह गरिमा नहीं देते। मुस्लिम हृदय की वास्तविकता १९४७ के देश-विभाजन के बाद ही सामने आई और अब यह स्पष्ट है कि प्रगतिशील से प्रगतिशील मुसलमान बादशाह या सुलतान ने कभी भी हिन्दू संस्कृति की हिमायत नहीं की। अकबर महान् जैसे लोग केवल साम्राज्य विस्तार और संगठन के लिए हिन्दू राजकुमारियों को अपनाते रहे और हिन्दू योद्धाओं को सेनापति का कार्य सौंपते रहे। शुक्ल जो जैसे आलोचक आज होते तो वस्तुवादी साहित्य के विकास की दिशा क्या होती, यह तो मैं नहीं जानता, पर देश विभाजन और बाह्य आक्रमणों की कभी भी हिमायत न करते। जिन शब्दों में उन्होंने भक्ति की पृष्ठभूमि में हिन्दुओं की दीनता हीनता का इजहार किया है उससे साफ लगता है कि वे असांप्रदायिक होते हुए भी अमेरिकी और रूसी जूठन को बटोर-बटोरकर हिन्दी की सशक्त कृतियों की सम्यक् समीक्षा का पाखण्ड माथे पर लादे रहना नहीं चाहते। कैसी विडम्बना है, आचार्य के साथ जुड़ी कि उनके शिष्य अधिकतर वे लोग थे जो पाठ-संशोधन, टीका-लेखन आदि क्षेत्रों में कार्यरत रहे। उनमें से एक भी ऐसा नहीं था जो आज कविवृन्दों या कथाकारवृन्दों को धरती की ओर लौटने की सलाह देता।

शुक्लजी के बाद के साहित्य समीक्षक आ० नन्ददुलारे वाजपेयी ने शुक्लजी के विद्यमान होते हुए भी छायावाद के मूल्यांकन का जो प्रतिमान निर्मित किया, वह उस स्फुलिंग की ओर संकेत तो देता है कि अभिनव आचार्य नये बटखरे लेकर आ रहा है। हुआ भी ऐसा ही। हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी के निबन्ध उनके परिश्रम और नहीं उद्भावना के प्रमाण हैं। वे गद्यकृतियों से सर्वश्रेष्ठ रचनायें चुनते हुए जब शुक्लजी के हिन्दी साहित्य के इतिहास को स्वीकार करते हैं वह भी अद्वितीय कहकर तो लगता है, विरोधी भावधाराओं में बटे होने पर भी वाजपेयी जी रचनाकार के वास्तविक प्रदेय को कपट नहीं लेते।

तीसरे समीक्षक के रूप में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का अवतरण गंगा प्रवाह की तरह हुआ। वे बंगीय चेतना में विकसित रक्तकरवी के पुष्प की तरह थे, जिसमें कोमलता भी है सुगन्धि भी। व्यक्ति भी है और व्यक्तियों का महासमुद्र भी है। नाना धर्मों की, संस्कृतियों की, कलाओं की मिथक और गाथाचक्रों की एक ऐसी सर्वनिष्ठ विरासत पूरे भारत को प्राप्त है कि हम चाहकर भी उसे खण्डशः विभक्त करके समझ नहीं पायेंगे। पंडितजी वस्तुतः समन्वयवादी थे। उसी को लोग मानवतावादी, उसी को गुरुदेव के महामानव से जोड़ देते हैं। आजकल ऐसे-ऐसे अवधूत समीक्षक उभर रहे हैं जो महामानव शब्द सुनते ही नीत्शे को याद करके इसे जर्मन फासिज्म से जोड़ देते हैं।

पंडितजी सही अर्थों में समीक्षक नहीं, बल्कि उसके बहुत ऊपर प्रतिष्ठित व्यक्ति हैं। उनका प्रभामण्डल है, जिनमें काशी की मस्ती पस्ती, शान्तिनिकेतन की कलात्मक अल्पनायें और चित्रगीत सभी कुछ घुलमिल गया हैं, हमारे सामने वे हिन्दी साहित्य की भूमिका के साथ प्रवेश करते हैं। अन्त के परिशिष्टों को देखकर कोई भी पाठक समझ जायेगा कि विचारणीय निबन्ध केवल एक है यानी भारतीय चिन्ताधारा का स्वभाविक विकास। अन्त के परिशिष्ट उनके लिए थे, जिनके लिए उन्होंने कई सुप्रसिद्ध उपन्यास लिखे। यानी कवि समय गुप्तकाल से लेकर हर्ष तक के साहित्य में चर्चित नागर की दिनचर्या, उसके भोगविलास के उपकरण आदि की विस्तृत चर्चा हुई। पंडित जी पर जो आरोप लगाया गया, उसका शीर्षक था धुरीहीनता। धुरीहीनता में स्पष्ट कहा गया कि वे एक साथ राम की भी जय चाहते हैं और रावण की भी।

जिसने लिखा—'हाय रे बाणभट्ट तुझे यही होना था' उस व्यक्ति की लम्बी चिट्ठी मैंने 'शान्ति निकेतन से शिवालिक' में छापी थी। उस व्यक्ति ने लिखा था। मैं आपको अपना गुरु मानता हूँ। उसी पुस्तक में एक अलग लेख में द्विवेदी जी के विराट् व्यक्तित्व का विश्लेषण करने का प्रशंसनीय प्रयत्न भी था। अब व्यक्तिगत दोष ढूंढ़ने के लिए उस व्यक्ति की निन्दा क्यों हो रही है ?

और इस रिक्तता (वैकुअम) में नाटकीय ढंग से प्रवेश होता है एक ऐसे समालोचक का जिसने एक मनुष्य की दृष्टि से मुझे बहुत प्रभावित किया है। बिना बताये, सूचित किये एक व्यक्ति कहता है कि मैं तुम्हारी सारी परिस्थितियों को जानता हूँ, जिनसे तुम आठ साल से संघर्ष कर रहे हो। अपनी थीसिस के प्रकाशन के बाद से आज तक हम कई बार मिले पर कभी भी कटुता नहीं दिखी। वह आलोचक है डॉ० रामविलास शर्मा। उनसे मतभेद भी

स्पष्ट था विरोध भी। किन्तु मैं साहित्यकार होने की पहली शर्त यानी मनुष्यता को अनिवार्य मानता हूँ।

समीक्षक से कहीं अधिक डॉ० शर्मा चिन्तक के रूप में सामने आते हैं। वे बहुत ही परिश्रमी बहुपठित तथा सप्रमाण चीजों को उपस्थित करने की कला जानते हैं। शर्माजी जिस बैसवाड़े की उपज हैं वह आल्हा, कहरवा के लिए प्रसिद्ध है। उन्होंने निराला की साहित्य साधना की तैयारी के दौरान जो अध्ययन किया उसने उन्हें दो दिशाओं की ओर मोड़ने का कार्य किया। एक तो बहुत स्पष्ट रास्ता था यानी मानव संघर्ष को रेखांकित करने की वामपंथी विचारधारा और दूसरा क्षितिज तब उद्‌घाटित हुआ जब उन्होंने बंगाल के नवजागरण काल का पुनः परीक्षण शुरू किया। लगता तो बहुतों को रहा है कि बंगाल के पुनर्जागरण ने सारे भारत को जगाया पर शंकायें उठती रहीं कि राममोहन राय, केशवचन्द्र सेन, रामकृष्ण परमहंस, श्री अरविन्द आदि एक तरफ तथा दयानन्द सरस्वती आदि ने दूसरी तरफ जो आंदोलन छेड़े थे क्या मध्यदेश यानी हिन्दी क्षेत्र उन्हीं से प्रभावित होता रहा है, या इस धरती से कोई नया जागरण खुद पैदा हुआ ?

रामविलास शर्मा ने पर्याप्त सामग्री एकत्र करके 'हिन्दी जागरण' नाम से एक समानान्तर चलने वाले पुनरुत्थान को रेखांकित किया। राममोहन राय, केशवचन्द्र सेन, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द आदि महान् प्रेरणादायक व्यक्तियों की तरह सब के लिए मान्य हैं, किन्तु उपर्युक्त नामों में विवेकानन्द को छोड़कर कोई भी ऐसा व्यक्तित्व नहीं है जिसने हिन्दी क्षेत्र को बहुत गहराई तक प्रभावित किया हो। ऐसी स्थिति में पूरब का यानी बंगीय क्षेत्र का पुनरुत्थान पश्चिमी क्षेत्र के दयानन्द सरस्वती आदि के पुनरुत्थान में कोई सम्बन्ध जोड़ना मुश्किल होता है। क्या पूर्वी और पश्चिमी पुनर्जागरणों के बीच एक ऐसी दूरी नहीं थी, जिसने मध्यदेश यानी हिन्दी क्षेत्र को तिरस्कृत रखा। शर्मा जी ने स्पष्ट देखा कि कलकत्ते की हिन्दी पत्रकारिता चाहे बंगीय पुनर्जागरण से प्रभावित लगे तो भी हिन्दी क्षेत्र के महान् रचनाकारों के रूप में भारतेन्दु, बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, खुद निराला और दूसरे साहित्यकार एक ऐसी जमीन का निर्माण कर रहे थे जो शुद्ध मध्यदेशीय थी। क्या कारण है कि शुक्लजी जैसे आलोचक भारतेन्दु और उनके प्रभामण्डल के इर्द-गिर्द घूमनेवाले लेखकों की राष्ट्रीयता को रेखांकित करते हैं, किन्तु प्रेमचन्द को कर्मभूमि, रंगभूमि में शोषक जमींदारों से लड़नेवाले गरीब खेतिहर मजदूरों की वकालत करते देखते हुए भी एक तथ्य को

नकार देते हैं। पटेल से बारडोली जुड़ी रही। राजेन्द्र बाबू चम्पारण क्रान्ति की देन माने गये। पर किसी ने यह जानने की कोशिश नहीं की चक्रधर कौन है? वह पटेल और राजेन्द्र प्रसाद की तरह सजे-सजाये मंच पर खड़ा नहीं होता, किन्तु चक्रधर के रूप में अपनी और अपने चरित्रों के माध्यम से अवध के किसान विद्रोह को एक दस्तावेज में आबद्ध करनेवाले प्रेमचन्द खुद राजेन्द्र बाबू, पटेल की श्रेणी में अपना नाम जोड़ने के हकदार हो जाते हैं।

डॉ० शर्मा एक विश्लेषक तथा आलोचक हैं। भारतेन्दु, महावीर प्रसाद द्विवेदी, प्रेमचन्द आदि पर उनकी समीक्षायें चर्चित ही नहीं हुई हैं, बल्कि एक नया मोड़ लेकर, सामने आयीं क्या यह सत्य नहीं है कि निराला के व्यक्तित्व और कृतित्व के लिए उन्होंने पूर्णतः समर्पित समीक्षक की हैसियत से जो कार्य किया वह व्यावहारिक समीक्षा का सर्वोच्च नमूना है। डा० शर्मा ने प्रेमचन्द को छोड़कर किसी भी कथाकार पर जमकर नहीं लिखा। अपनी घनिष्ठता को प्रकट करने के बहाने उन्होंने अमृतलाल नागर के उपन्यासों पर पत्र लिखे, किन्तु मुझे यह कहने में किंचित् भी द्विधा नहीं लगती कि उनके सर्वोत्तम साहित्य-चिन्तन को परिष्कृत करनेवाला केन्द्र वह मार्क्सवादी दर्शन है जिस पर उन्होंने कठमुल्लापन के नजरिये से नहीं, बल्कि सही और ठोस धरातल पर आसीन होकर विचार किया। वे भी शुक्लजी की तरह रहस्यवादियों को नकारते हैं, तुलसी-सूर के प्रशंसक हैं, यहाँ तक कि अपनी प्रगतिशीलता के घेरे में वे प्रसाद, वृन्दावन लाल वर्मा तक को समेट लेते हैं। उन्होंने इस पृष्ठभूमि को प्राप्त करने में मार्क्सवाद की कठहुज्जती को कभी स्वीकार नहीं किया। जब लोग नई कविता में मुक्तिबोध, केदारनाथ अग्रवाल, सर्वेश्वर को बहुत अग्रगामी और भविष्योन्मुख प्रगतिशील कवि कहते रहे तब भी उन्होंने नकली मुरादाबादी कलई को उतारकर पूरी नई कविता को अस्तित्ववाद पर आधारित, व्यक्ति केन्द्रित सिद्ध करते हुए उन तमाम पंक्तियों की धज्जियाँ उड़ा दीं, जिन्हें बतौर नारे के रूप में ग्रहण करने और कराने के लिए अथक कोशिशें की जा रही थीं। मुझे पूरा विश्वास है कि अगर उन्होंने कथा-साहित्य को भी अपने विश्लेषण का आधार बनाया होता तो वे तमाम मुखौटे चेहरों से उतर जाते जो सहोदरीय मतदान में एक पम्फलेट लेखक के ऊपर लपेटे जाते हैं। यह एक नये प्रकार का फासिज्म है, जिसे रेवड़ी के भाव लुटाया जाता है। वह आलोचक के अहं का विस्फार है कि वह दो-तीन पैम्फलेट लिखकर अपने को उपर्युक्त समालोचकों में पाँचवा घोषित करने के लिए पूछने के पहले ही बोल पड़ता है कि ये पाँचों सवार दिल्ली जायेंगे।

दिल्ली मांसलता और मदपर जीने वाले स्वयं उद्घोषित तथाकथित बुद्धिजीवियों का जमघट है। जब तक दिल्ली और भोपाल एक में जुड़ते नहीं तब तक के सर्वोच्च केन्द्र और प्रान्तीय संस्कृति के प्रचारक तृतीय श्रेणी के लेखकों की बटोरें बेमानी हो जाती हैं। मध्य प्रदेश के अनेक लेखकों ने इस दुरभिसन्धि को तोड़ने की कोशिशें कीं, एक आई० ए० एस० की महत्त्वाकांक्षा ने हिन्दी के वास्तविक प्रगतिशील लेखकों से कुट्टी कर ली और प्रगतिशीलता के नाम पर शराब और जिस्म के सम्बन्धों पर लिखी गई रचनाओं को सर्वोत्तम कृतित्व कहकर पुरस्कृत करता रहा। दूसरा है लखनऊ दरबार जहाँ के हिन्दी संस्थान पर कब्जा करनेवाले लोगों से अपने को बचाया, हालाँकि प्रगतिशीलों के प्रभावक्षेत्र का गढ़ बनाने की सारी कोशिशें होती रहीं, हिन्दी-संस्थान भारत भवन नहीं हुआ, यह मेरे लिए मनस्तोष का विषय है, किन्तु भारत भवन से अभारतीय कारनामों के संचालक अपने ही जाल में जब उलझ गये तो सारी हेकड़ी भूल गई।

यह है नई समीक्षा की बैसाखियाँ।

हिन्दी के अनेक लोग जो राजनीति से अलग रहते हैं, यह देखकर हैरान हैं कि नये साहित्य के मामले में वे इस तरह असहाय होते जा रहे हैं; क्योंकि पाखण्ड विवाद में सचमुच के सद्‌ग्रन्थ लुप्त होते जा रहे हैं अथवा उन पर चन्द्रग्रहण की परतें चढ़ती जा रही हैं।

अब समीक्षक बचता ही कौन है? यह एक राजनीतिक ढंग का षड़यंत्र है कि दो आलोचकों को लड़ाकर एक ऐसी बनावटी रिक्तता पैदा कर दी जाय कि उसे भरने की कोशिश का पर्याय ही बन जाये, आलोचना। रामविलास शर्मा और हजारीप्रसाद द्विवेदी के बीच युद्ध क्यों हो रहा है। रामविलास शर्मा ने यह पहल नहीं की, पहल की गई द्विवेदीजी के एक शिष्य द्वारा दूसरी परंपरा की खोज में। शुक्ल और द्विवेदी का अनावश्यक मेषयुद्ध दिखाकर। चारों समालोचकों में कोई एक तो गिरेगा ही। शुक्लजी के विरोध में वाजपेयीजी का जो अंजाम हुआ वह द्विवेदीजी के साथ नहीं घटेगा। शुक्लजी के पास वस्तुवादी दृष्टि थी तो द्विवेदी के पास नई से नई उद्‌भावनों को अक्षय भंडार-सौंदर्यशास्त्र कालिदास से कबीर सूर तक की मानवतावादी दृष्टि की सूक्ष्मता का बोध, सूक्ष्म से सूक्ष्म तत्त्व को पकड़ा कर आत्मविसर्जन की महानता चौथे सवार से होशियार भी रहना चाहिये, क्योंकि प्रगतिशील समीक्षकों में दो के बीच चलने-

वाले इस घिनौने युद्ध में पराजय समीक्षक की नहीं, तिकड़मी की होनी चाहिये जो धीरे-धीरे हिन्दी के छुटभैये समीक्षकों को आलोचना के तम्बू में बटोर रहा है और उसके इशारे पर गधे घोड़े बनने की कोशिश कर रहे हैं, शुक्लजी से लड़कर वाजपेयी साफ हुए, शुक्लजी से अब उत्तराधिकारियों का संघर्ष चल रहा है। पुरश्चरण चल रहा है और जो भी गिरे इस कुहाच्छन्नता में कम से कम चार बचेंगे। शुक्ल, वाजपेयी, द्विवेदी और सिंह। १९५३ के हमारे सहपाठी लोकनाथ मराली का कहना था, देखा तुमने क्या लिखा है शर्मिह ने। शर्मा और सिंह की वर्ण संकर उपलब्धि है शर्मिह। तब नये-नये प्रगतिशील समीक्षक जो की डॉ० शर्मा से ककहरा सीखते थे इसका प्रमाण मैं लिखित रूप में दे सकता हूँ।

काशिका

गुरुवर हजारीप्रसाद द्विवेदी ने १९५३ के आसपास एक संकल्प लिया था 'काशिका' निकालने का। उन्होंने 'काशिका प्रकाशन समिति' तो बना ली पर एक दो पुस्तकों के छपने के बाद ही वह टूट भी गई। मेरे अनुरोध को स्वीकार करके भूतपूर्व कुलपति श्री इकबाल नारायण ने चालीस प्राध्यापकों के शोधकार्यों को सामने लाने के लिए चार हजार रुपये दिये। उस समय मैं बहुत ही दुखदायी दौर से गुजर रहा था। अगर विश्वविद्यालय प्रकाशन के प्रबुद्ध और सूझ-बूझ-वाले श्री पुरुषोत्तमदास मोदीजी ने उदारतापूर्वक सहयोग न दिया होता तो मैं चार हजार रुपये लौटाकर कहता कि कागज, स्याही, कम्पोजिंग के भीषण दबाव से बचकर मैं 'काशिका' निकालने में असमर्थ हूँ। पर मोदी साहब ने मेरे प्रयास में जिस सौजन्य का परिचय दिया, मैं तदर्थ उनका कृतज्ञ हूँ। डॉ० वशिष्ठनारायण त्रिपाठी, डॉ० अवधेश प्रधान और मेरे पुत्र नरेन्द्र ने जो सहयोग दिया उसके लिए सस्नेह धन्यवाद।

तत्कालीन डीन [कलासंकाय] श्री अंजनकुमार बनर्जी ने प्रकारान्तर से उक्त राशि को दिलाने में सहयोग किया। उनके प्रति आभारी हूँ।

सुधर्मा, गुरुधाम
वाराणसी

शिवप्रसाद सिंह

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : सही परंपरा की खोज

—डॉ० रामनारायण शुक्ल

सवाल है, विरासत के मूल्यांकन की दृष्टि क्या हो ? क्या अतीत में जो कुछ रचा-लिखा गया है, ऐसा सब कुछ विरासत माना जा सकता है ? या विरासत वही है, जो प्रासंगिक भी हो। समूचे अतीत की प्रासंगिकता का क्या मतलब ? समूचे अतीत को एक ही धारा के रूप में देखा जाय या अतीत में भी दो धाराओं के द्वन्द्व का होना स्वाभाविक है ? तो फिर, कौन सी धारा और क्यों प्रासंगिक है ? वर्तमान और अतीत के रिश्ते का बोध क्यों उपयोगी है ? अतीत की महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ वर्तमान को किस प्रकार उत्प्रेरित करती हैं ?

विशिष्ट युग या रचनाकार की उपलब्धियों से पहचान कायम करने के मूल में कहीं न कहीं यह बात भी छिपी रहती है कि वह युग या रचनाकार वर्तमान से किस रूप में जुटा हुआ है। अतीत का वह साहित्य जो क्लासिक बन चुका है, बाह्य परिस्थितियों के परिवर्तन क्रम में भले ही काफी पीछे छूट चुका हो, पर सूक्ष्म मानवीय उपलब्धियों के स्तर पर यदि आज भी हमें आकर्षित करता है, या अपने युग से हमारी पहचान कायम कराने में एक सशक्त आधार बन रहा है, तो उसकी प्रासंगिकता के निर्णय का एक आधार यह भी हो सकता है। परन्तु प्रासंगिकता मूलतः परिस्थितिगत संबद्धता के बिन्दु पर तलाशी जाती है। यद्यपि दो युगों में काफी अन्तराल होता है, परिवर्तन की धारा दूसरा मोड़ ले चुकी रहती है, फिर भी कभी-कभी हजारों वर्षों का पुराना इतिहास भी किसी न किसी बिन्दु पर वर्तमान से जुटा दीखता है। वर्तमान के संघर्ष की दिशा में अतीत के वे बिन्दु चमक उठते हैं। संत कबीर की उक्तियों का इस्तेमाल विभिन्न सामाजिक ढोंगों और रूढ़ियों पर चोट करते समय, इसीलिए हमें बड़बोलेपन से बचा लेता है।

संत कबीर के युग और हमारे युग के बीच की दूरी काफी लम्बी है, फिर भी कबीर से हमारा रिश्ता सामाजिक चुनौतियों के स्तर पर जुट जाता है। दो युगों की दूरी के अलावा एक ही युग में मोड़ों के स्तर पर दूरी रेखांकित की जा सकती है, पर बुनियादी माँगों और चुनौतियों के स्तर पर सैकड़ों वर्षों तक

संघर्ष की दिशा समरूप हो सकती है। उदाहरण के लिए हम भारतीय नव-जागरण को ले सकते हैं। क्या भारतीय नव-जागरण के सपने यथार्थ बन पाये हैं? यदि पूरी तरह नहीं तो बुनियादी संघर्ष की एकरूपता के स्तर पर उस युग का साहित्य हमारे लिए अधिक उत्प्रेरक और प्राणवान होगा। आखिर, प्रेमचन्द हमारे इतने करीब क्यों हैं?

भारतीय नव-जागरण के दूसरे दौर में एक बहुत बड़ी आकांक्षा का उदय हुआ था। चूंकि जागरण समूची सामाजिक प्रक्रिया में घटित हो रहा था, इसलिए उसका अनिवार्य अन्तर्निहित दीर्घकालिक परिणाम व्यापक जनता की सत्ता की स्थापना में दिखाई दे रहा था। व्यापक जनता के जागरण को अवरुद्ध करनेवाली सबसे बड़ी ताकत थी ब्रिटिश साम्राज्यवाद, और भारतीय सामन्तवाद ने चूंकि औपनिवेशिक तंत्र की अधीनता को स्वीकार कर लिया था, इसलिए इसका दलाल चरित्र जन-जागरण के आड़े आ रहा था। इस जागरण की एक बड़ी जरूरत यह भी थी कि भारत को जीर्ण-शीर्ण रूढ़िवाद से मुक्ति मिले, तभी अवरोधों से लड़ने की शक्ति भी संगठित की जा सकती थी। इस दौर की साहित्यिक-सांस्कृतिक प्रतिभाएँ इन्हीं चिन्ताओं से गुजर रही थीं।

भारतीय समाज के गर्भ में मौजूद पूँजीवादी तत्त्वों को कुचलते हुए ब्रिटिश उपनिवेशवाद जिस पूँजीवाद का संरक्षक बना वह नये मूल्यों और मान्यताओं के स्वास्थ्य की अगुआई नहीं कर पा रहा था। जन-जागरण की स्वाभाविक आकांक्षा थी कि देश स्वतन्त्र हो। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक दशकों में यह आकांक्षा प्रतिबिम्बित भी हुई। तिलक का क्रान्तिकारी नेतृत्व इसीकी देन था, लेकिन पूंजीवादी नेतृत्व के हॉवी होते ही पूर्ण स्वतंत्रता की माँग धूमिल पड़ने लगी, नेतृत्व का समझौता-परस्त चरित्र उभाड़ लेने लगा। सम्भवतः यही कारण है कि गांधी के नेतृत्व से प्रेमचन्द का मोह भंग हुआ। निराला और रामचन्द्र शुक्ल के विचारों में भी गांधी के प्रति विरोध ही झलकता है। आचार्य शुक्ल के मानस पर तो तिलक के नेतृत्व का स्पष्ट प्रभाव था। स्पष्ट है कि वह जागरण अपने तीसरे दौर में जनवाद के संघर्ष की सचेतन राजनीति से जुटने लगता है लेकिन नेतृत्व की असफलता के चलते ब्रिटिश साम्राज्यवाद से प्रत्यक्ष मुक्ति के बावजूद वह संघर्ष अभी तक जारी है और यही कारण है कि भारतेन्दु और उनके बाद के साहित्य में व्यक्त राष्ट्रीय धारा में ऐसे बहुत से बिन्दु मिल जाते हैं, जिसकी प्रासंगिकता में हमें कोई सन्देह नहीं होता, बल्कि उसे विकसित करने की जरूरत बराबर महसूस होती रही है।

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक दशकों में आधुनिक हिन्दी-साहित्य की जो नींव डाली गयी, वह अपने युग और समाज की बहुत बड़ी माँग थी। साहित्य को जन-जीवन से जोड़ने का जो प्रयास भारतेन्दु ने शुरू किया था, उसे इस दौर में और व्यापकता तथा गहराई मिली। स्वतंत्र और आत्मगौरवपूर्ण व्यक्तित्व की रचना का आधार जीवन की विभिन्न वास्तविकताओं के बीच खोजा जा रहा था। साहित्य के विभिन्न क्षेत्रों से जुटे प्रेमचन्द, प्रसाद, निराला और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जैसी प्रतिभाएँ अपने युग की माँग पूरी करने में दिखाई पड़ती हैं।

अपने देश-समाज को आगे ले जानेवाले वैज्ञानिक चिन्तन का प्रवेश, यद्यपि इन प्रतिभाओं के रचनाकाल के अन्तिम दिनों में हुआ; इसलिए वैज्ञानिक चिन्तन की माँग उस हद तक इनसे की भी नहीं जा सकती, लेकिन किसीकी वैज्ञानिक सामाजिक चिन्तन के रचनात्मक विकास की वस्तुगत स्थितियाँ होती हैं, कहना न होगा कि इस दौर का साहित्य उसी पृष्ठभूमि का साहित्य है, और इसीलिए वस्तुवादी चिन्तन के बीज प्रचुर रूप में अंकुरित हुए। आज जब हम अपनी इस पृष्ठभूमि का विश्लेषण करते हैं, तो सबसे पहले हमारे सामने सामाजिक जागरण का वह दौर आता है। युग की सीमाएँ और अन्तर्विरोध भी युगीन रचनात्मकता में घुले-मिले दिखाई देते हैं। प्रेमचन्द और आचार्य शुक्ल के साहित्य और चिन्तन की ताकत इस बात में भी दिखाई पड़ती है कि उनका साहित्य युगीन अन्तर्विरोधों को ढो रहा है। उनके साहित्य में युग स्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित हो रहा है। ऐसी बात नहीं है कि इनके साहित्य में मात्र युग की सीमाएँ और अन्तर्विरोध ही कारक रूप में मौजूद हैं, इन रचनाकारों की निजी सीमाएँ भी स्पष्ट हैं।

प्रेमचन्द, निराला और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के विचार द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी नहीं हैं, और यदि हम इस विचार के हैं, तो स्पष्ट है कि हमारी और उनकी सोच में काफी फर्क दिखाई पड़ेगा, लेकिन जब हम स्वयं को इस सदी के दूसरे दशक में खड़ा करते हैं तो लगता है कि हम उनकी सोच से अलग हो ही नहीं सकते थे। इसलिए जो लोग मार्क्सवाद की आड़ लेकर इन रचनाकारों की गैर-मार्क्सवादी दृष्टि को मुख्य निशाना बना लेते हैं, वे निश्चित ही मार्क्सवादी चिन्तन की रचनात्मक दृष्टि से पतित हो जाते हैं, परम्परा की खोज में चमत्कार दिखाना शुरू कर देते हैं। आचार्य शुक्ल में यदि राष्ट्रीय जनवाद के

तत्त्व उनके यथार्थोन्मुख वस्तुवादी चिन्तन में मिल जाते हैं, तो वे निश्चित रूप से हमारी मूल्यवान् विरासत हैं। इस स्तर पर हमें प्रेमचन्द और शुक्लजी के मूल्यांकन में जहाँ दोनों में समानता दिखाई देती है, वहीं यह भी ख्याल में रखना होगा कि दृष्टिगत अन्तर्विरोधों के बावजूद प्रेमचन्द बोल्शेविक उसूलों के प्रति अपना आकर्षण व्यक्त करते हैं, वहीं शुक्लजी पूँजीवादी प्रचारों पर विश्वास कर लेते हैं और बोल्शेविक उसूलों के प्रचार और प्रभाव का विरोध करने लगते हैं। उन्हें चिन्ता होने लगती है कि अन्य यूरोपीय सिद्धान्तों की तरह इस सिद्धान्त का प्रचारवाद हमारे साहित्य के विकास की स्वाभाविक धारा को कहीं क्षतिग्रस्त न कर दे। शुक्लजी का यह विरोध उनकी देन की तुलना में काफी छोटा है, इसलिए उनका विरोध हमारे विरोध का कारण नहीं बन सकता।

आचार्य शुक्ल का समग्र रचनात्मक व्यक्तित्व भारतीय नव-जागरण की विशेषताओं और अन्तर्विरोधों की देन है। आलोचना उनकी रचनात्मकता का मुख्य पक्ष है, जो उनकी इतिहास-दृष्टि और निबंधों में भी अन्तर्निहित है। उनके पहले साहित्य-दृष्टि की दो परम्पराएँ मिलती हैं। समाजोन्मुख साहित्य-दृष्टि की बहुत ही क्षीण परम्परा शुक्लजी को मिली थी, उन्होंने इसी परम्परा को व्यवस्थित और विकसित किया। इस परम्परा से कहीं अधिक प्रचलित रूपवादी चमत्कारवाद की परम्परा थी, जिसका निषेध किया। हिन्दी के नये काव्य-शास्त्र के निर्माण में शुक्लजी की दृष्टि अंग्रेजी की समृद्ध परम्पराओं की ओर भी गयी, लेकिन आँख मूंदकर सब कुछ स्वीकार कर लेने के पक्ष में न थे। पश्चिमी साहित्य-सिद्धान्तों के सकारात्मक पहलुओं के आधार पर हिन्दी आलोचना का आधुनिकीकरण किया। पश्चिम से सीखने की तुलना में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के प्रभुत्व में प्रचार ले रहे व्यक्ति वैचित्र्यवादी कला-सिद्धान्तों के विरोध की जरूरत शुक्लजी को अधिक दिखाई पड़ी। शुक्लजी के स्वीकार और विरोध के मूल में युग की माँग के रूप में विकसित हो रहा मानवतावादी तार्किक वस्तुवाद था। अपने समाज में फैली रूढ़ियों और पिछड़ेपन के साम्राज्य को कमजोर करने के लिए जरूरी था कि नयी वैज्ञानिक सोच को स्वीकार और प्रचारित किया जाय। संभवतः इसी सोच के चलते शुक्लजी ने हैकल के 'विश्व प्रपंच' (रिड्ल ऑव द यूनिवर्स) का अनुवाद किया और लम्बी भूमिका लिखी।

हिन्दी में उठी बहस कि 'देव बड़े या बिहारी' में अलंकारवादी चमत्कारों के खेल को खारिज करते हुए शुक्लजी ने संस्कृत आचार्यों के रस-सिद्धान्त को

उपयोगी समझा। साधारणीकरण और इसकी नयी व्याख्या प्रस्तुत की। इसकी आत्मवादी और आनन्दवादी व्याख्या का विरोध करते हुए लोक-हृदय में लीन होने की दशा का नाम रस-दशा है—जैसी मूल्यवान् स्थापना दी। अशोक-वाटिका में पड़ी विरह-विदग्धा सीता के प्रति रावण की कामुक उक्तियों को सुनकर रावण से तादात्म्य स्थापित करने की बात शुक्लजी को आपत्तिजनक प्रतीत हुई। इससे लोक-मर्यादा और सामाजिक नैतिकता पर चोट हो रही थीं। उन्होंने साधारणीकरण की इस मान्यता का खण्डन किया और अपनी नयी मान्यता दी।

अंग्रेजी-साहित्य में जोरदार बहस छिड़ी हुई थी कि कला कला के लिए या कला जीवन के लिए। कला का अपना अलग जीवन और सक्षम अनुशासन होता है, इस सोच को आधार बनाकर कई कला-सिद्धान्तों की रचना भी हुई, उनमें अभिव्यंजनावाद भी एक था। शुक्लजी ने ऐसे सिद्धान्तों का खण्डन किया तथा 'कला जीवन के लिए' के पक्ष में तर्क दिया। शुक्लजी ने टालस्टाय के एकांगी कला-दर्शन का भी विरोध किया। वस्तु-जगत् और सौन्दर्य की गत्यात्मकता को स्वीकार करते हुए कोमल और उग्र भावों के सामञ्जस्य में सौन्दर्य की चर्चा की। शुक्लजी के इन विचारों की प्रासंगिकता आज भी बनी हुई है। अपने देश में तो बाद में चलकर साम्राज्यवादी चिन्तन का आयात और तेज हुआ, और उसने नयी कविता के दौर में बड़े पैमाने पर लोगों को गुमराह भी किया। ऐसी स्थिति में ऐसे सिद्धान्तों के विरोध में दिये हुए शुक्लजी के तर्क बाद में चलकर भी हमें बल देते रहे हैं।

चाहे युरोप हो या भारत साहित्य के क्षेत्र में इस प्रकार के चिन्तन की एक लम्बी और मजबूत परम्परा मिलती है कि कविता आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति है। ऐसी काव्यानुभूति स्वतंत्र और निरपेक्ष होती है तथा इसका आस्वाद संवेदन घन के रूप में स्थापित किया गया। इसके मूल में यह मान्यता भी छिपी हुई थी कि कविता अलौकिक चमत्कार की देन है, बिना दैवी प्रेरणा के सत् साहित्य का निर्माण संभव ही नहीं। इस प्रकार काव्य-प्रतिभा और प्रेरणा अलौकिक दिव्यता से मंडित होती है। इतना ही नहीं, कविता के केन्द्र में मनुष्य नहीं रह गया था, बल्कि यहाँ भी आध्यात्मिक रहस्यानुभूति का रंग अत्यधिक गाढ़ा था। यदि योगियों और संतों के इस प्रकार के साहित्य को शुक्लजी ने साम्प्रदायिक शिक्षा मात्र कहते हुए साहित्य से बाहर रखने की बात की तो हम उस युग की वस्तुगत स्थितियों के विश्लेषण की भी शुक्लजो से अपेक्षा रखते

हैं, पर कविवर रवीन्द्र और छायावाद जो नये भारतीय जागरण की देन हैं, इनमें भी जब रहस्यानुभूति का रंग गाढ़ा ही होता दिखता है, तो शुक्लजी का विरोध कत्तई प्रासंगिक और उचित जान पड़ता है। यद्यपि शुक्लजी भी विश्व को अव्यक्त का प्रसार मानते थे, और शुक्लजी की यह मान्यता उनके चिन्तन में अन्तर्विरोधों को जन्म भी देती है, फिर भी, काव्य-क्षेत्र से अध्यात्म और रहस्यानुभूति को बाहर रखने और मानव-जीवन को प्रतिष्ठित करने का तर्क, निस्सन्देह, शुक्लजी के चिन्तन का प्रगतिशील पक्ष है।

आचार्य शुक्ल का चिन्तन कला-साहित्य की रूपवादी परम्पराओं का निषेध करता है और लोक-चेतना की अभिव्यक्ति का पक्षधर है। शुक्लजी ने जीवन की मार्मिक अनुभूतियों और विभिन्न लोक-दशाओं के चित्रण पर बल दिया। उनकी दृष्टि में कविता मनुष्य के व्यापक कर्म-क्षेत्र का ही विधान है। कर्म-क्षेत्र के भीतर मनुष्य की कोमल और कठोर दोनों प्रकार की वृत्तियों का सामञ्जस्य दिखाई पड़ता है। प्रेम और करुणा में लोक-मंगल के बीज निहित हैं, जिस क्रोध में मानवीय करुणा के बीज निहित हों, वह क्रोध भी लोक-मंगल के लिए अनिवार्य है। इसी धारणा के चलते संभवतः शुक्लजी को प्रबन्ध-काव्य में व्यापक जीवन-कर्म के विधान का अवसर अधिक दिखाई दिया और उन्होंने प्रबन्ध-काव्य को अधिक महत्त्व दिया। महाकवि तुलसी को श्रेष्ठ कवि घोषित करने के पीछे शुक्लजी की इन स्थापनाओं का योग स्पष्ट है।

आचार्य शुक्ल ने काव्य की दो अवस्थाओं की चर्चा की है—सिद्धावस्था और साधनावस्था। सिद्धावस्था की अपेक्षा साधनावस्था में कर्मरत मानव के प्रयास-पक्ष का चित्रण मुख्य रूप से होता है—इसीलिए शुक्लजी ने इस प्रकार के काव्य को अधिक महत्त्व दिया। दूसरे, इसमें विरुद्धों के सामञ्जस्य-विधान का अवसर अधिक मिलता है। भावगत ऐकान्तिकता के स्थान पर भावगत वैविध्य और उनके विस्तार का पक्ष उभार पर होता है। तीसरे लोक-मंगल के प्रति प्रतिबद्ध दृष्टि यहाँ अधिक कारगर होती है। आचार्य शुक्ल कवि-कर्म को सोद्देश्य मानते हैं। उनकी काव्य में लोक-मंगल की दृष्टि, निस्सन्देह, जनवादी काव्य के महत् उद्देश्यों की नींव बन सकती है।

शुक्लजी के कतिपय अन्तर्विरोधों और सीमाओं की चर्चा प्रायः हुई है। विचारधारा के स्तर पर शुक्लजी का भाववादी दर्शन युगीन अन्तर्विरोध या सीमा के रूप में विश्लेषित होना चाहिए। सामन्ती रूढ़िवाद के शुक्लजी विरोधी

थे, पर प्राचीन आदर्शों के प्रति रुझान उनमें अवश्य मिलती है, यह पक्ष भी मूलतः उनके भाववाद के ही चलते है। उनके युग में ब्रिटिश साम्राज्यवाद की प्रतिक्रिया में प्राचीन आदर्शों की ओर झुकाव प्रायः दिखाई पड़ता है। युगीन सीमाओं के अतिरिक्त आचार्य शुक्ल की कुछ व्यक्तिगत सीमाएँ भी हैं, जिनकी चर्चा अक्सर होती है। छायावाद की नयी रचनात्मक ऊर्जा की सराहना शुक्लजी ने नहीं की, वल्कि छायावाद की सीमाओं के ही मुख्य रूप से आलोचक वने रहे। दूसरे, संत कवियों के प्रगतिशील पक्षों के साथ शुक्लजी नहीं दिखाई पड़ते। इसी प्रकार महाकवि तुलसी के अन्तर्विरोधों की चर्चा न करना या उनके प्रति नरम रुख अख्तियार करना। शुक्लजी की सीमाएँ उनकी रचनात्मकता के गौण पक्ष के रूप में आती हैं, इन्हें नजरअन्दाज न करते हुए मुख्य रूप से उनके सकारात्मक पक्षों से ही सीखने की जरूरत है, जो लोग शुक्लजी के गौण पक्ष को मुख्य पक्ष वनाकर अपनी प्रतिभा को उजागर करते हैं, वे लोग शुक्लजी के ही प्रति अन्याय नहीं करते वल्कि उस युग और आज के रचनात्मक सत्य की भी उपेक्षा करते हैं। शुक्लजी के वड़े रचनात्मक व्यक्तित्व का ही सामर्थ्य है कि उनकी सीमाएँ भी मूल्यवान् सीख देती हैं, हमारी आलोचनात्मक क्षमता को वढ़ाने की कारगर चुनौती वनकर आती हैं।

आचार्य शुक्ल के आलोचक व्यक्तित्व का सराहनीय पक्ष उनकी इतिहास-दृष्टि में भी अन्तर्निहित है। इतिहास की गति कुछ नहीं वह सामाजिक जीवन की गति और प्रवृत्ति के रूप में ही विश्लेषित होती है, आलोचनात्मक सामर्थ्य इतिहास की संगति और असंगति से पहचान कायम करते हुए साहित्य के इतिहास को व्यवस्थित रूप देने में देखा जा सकता है। डॉ० रामविलास शर्मा ने लिखा है कि आचार्य शुक्ल की दृष्टि सुसंगत भौतिकवादी नहीं है, फिर भी शुक्लजी प्रासंगिक इसलिए हैं कि इनमें भौतिकवाद के तत्त्व मौजूद हैं। भौतिकवादी दृष्टि के विकास को दिखाने में शुक्लजी का वस्तुवाद पृष्ठभूमि वन जाता है। परम्परागत नैरन्तर्य को दिखाने में शुक्लजी हिन्दी जनपक्षीय प्रगतिशील परम्परा के पूर्ववर्ती स्तम्भ हैं।

आचार्य शुक्ल की इतिहास-दृष्टि की एक उल्लेखनीय विशेषता है कि वे साहित्य को शुद्ध साहित्य के रूप में नहीं लेते, वल्कि उसे जनता की चित्तवृत्ति के प्रतिविम्व के रूप में लेते हैं, और चित्तवृत्तियों के परिवर्तन की खोज सामाजिक परिवर्तन के आधार पर करते हैं। उनकी इस मान्यता का आवश्यक परिणाम यह होता है कि उनकी इतिहास-दृष्टि एकांगी और सपाट न रहकर

सामाजिक जटिलता के वैविध्य से अन्तर्सम्वद्ध हो जाती है। इसीलिए आचार्य शुक्ल का साहित्य का इतिहास मात्र साहित्य का इतिहास न रहकर सामाजिक परिवर्तन के अन्य रूपों—राजनीति, मनोविज्ञान, भाषा, लोक-रूप और शैलियों आदि को भी समेट लेता है। शुक्लजी की इतिहास-दृष्टि लोक-दशाओं की गति से पहचान कराने की ओर वरावर वनी रहती है। जहाँ अपेक्षित सामग्री का अभाव दिखाई देता है, वहाँ लोकाश्रित अनुमान के आधार पर निष्कर्ष देने की कोशिश करते हैं, और यदि कोई फाँक रह जाता है तो उसे अपनी रचनात्मकता के आधार पर भरना चाहते हैं—इस प्रकार इतिहास को व्यवस्थित रूप देने की कोशिश करते हैं। शुक्लजी की इस कोशिश के समानान्तर दूसरा इतिहास अभी तक प्रमाण नहीं वन पाया है।

आचार्य शुक्ल की इतिहास-दृष्टि इस वात पर सतर्क है कि युग-विशेष या विशिष्ट रचनाकार के किस पक्ष को महत्त्व दिया जाय। विशिष्ट रचनाकार के व्यक्तित्व-निरूपण में उसकी लोक-दृष्टि या उसके विचारों के प्रभावों का मूल्यांकन भी करते चलते हैं। अच्छे साहित्य और घटिया साहित्य के अन्तर को स्पष्ट करते हुए लोक-रुचि के निर्माण पर वरावर ध्यान रखते हैं। शुक्लजी की रस-दृष्टि गहरी और अचूक है, इस दृष्टि से किसी भी रचनाकार के सामर्थ्य की पहचान कराने में धोखा नहीं खाती। जायसी के महत्त्व को स्थापित करते हुए और केशव के महत्त्व को खारिज करते समय जिन तर्कों का इस्तेमाल किया है, उससे हिन्दी पाठकों की साहित्यिक रुचि का निर्माण और परिष्कार हुआ। इतिहास में शुक्लजी की ऐसी वहुत-सी स्थापना हैं, जो अभी तक प्रमाण बनी हुई हैं।

आचार्य शुक्ल ने भक्तियुगीन लोकोन्मुखता, मार्मिकता और जीवन-प्रियता का पर्याप्त रुचि और विस्तार के साथ उद्घाटन किया है। रीतिकालीन दरबारी मानसिकता ने साहित्य के घेरे को किस प्रकार संकुचित किया इसे कत्तई नजर-अन्दाज नहीं किया। यद्यपि शुक्लजी ने वर्ग-दृष्टि के आधार पर साहित्य का निर्माण नहीं किया है, फिर भी रीतिकाल की व्याख्या में वर्ग-दृष्टि का यथार्थ उभार पर है। रचनाकारों की सोच और उनके रचनात्मक मानस के निर्माण में सामाजिक आधारों की भूमिका क्योंकर प्रभावी होती है—शुक्लजी सतर्क रहते हैं।

भारतेन्दु-युग की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता—शुक्लजी की दृष्टि में—जन-

जीवन की ओर उन्मुखता है। भारतेन्दु ने जिस देश-भक्तिपूर्ण धारा को प्रवाहित किया, उसकी शुक्लजी ने बार-बार सराहना की है। पश्चिमी अंधड़ों की धूल से जब साहित्यकारों की आँखों के मूँदने का खतरा उन्हें दिखाई दिया तो उन्होंने चिन्ता व्यक्त की कि देश का रूप-रंग इससे धूमिल पड़ जायगा। शुक्लजी ने अपनी देश-भक्ति के चलते पूंजीवादी कलावादों का अवश्य विरोध किया, लेकिन जब पश्चिम के वैज्ञानिकों ने सामाजिक चिन्तन पर भी चोट की तो संभवतः उनकी दृष्टि में गंभीर साहित्य पर प्रचारवादी साहित्य के कारण हो रही चोट का खतरा मुख्य था। शुक्लजी की दृष्टि में पश्चिमी ज्ञान को ग्रहण करना बुरी बात नहीं है, पर उसके अन्धानुकरण की जगह रचनात्मक प्रयोग का सुझाव दिया है।

आचार्य शुक्ल की सामाजिक आलोचना और रचनात्मकता का उत्कृष्ट रूप उनके निबंधों में दिखाई पड़ता है। शुक्लजी ने कहा है कि हमारे निबंधों में हमारी बौद्धिक यात्रा में आनेवाले अन्तर्प्रदेश हैं, पर हृदय को साथ लेकर। यहाँ शुक्लजी का जीवन-विवेक और उनके जीवनानुभव का विस्तार सहज ही सुलभ हो जाता है। निबंधों में आये विचार-सूत्र कम उत्प्रेरक नहीं हैं। शुक्लजी का पूरा व्यक्तित्व उनकी समग्र विशिष्टताएँ और उनके दार्शनिक अन्तर्विरोध भी स्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित होते हैं।

भावों या मनोविकारों पर निबन्ध-लेखन की परम्परा शुक्लजी को पश्चिम से मिली, पर हिन्दी में निबन्ध-लेखन की परम्परा, अन्य विधाओं की तुलना में, समृद्ध रूप में शुक्लजी के पहले से ही निर्मित होने लगी थी। विशिष्ट भावों को परिभाषित—विश्लेषित करने के सार पर शुक्लजी में पश्चिमी प्रभाव अवश्य मिलते हैं, लेकिन उनकी मौलिकता प्रभावी रूप में उभार लेती है उनके अन्तःसंबंधों और सामाजिक संबंधों की व्याख्या में। पश्चिमी मनोवैज्ञानिकों ने प्रायः भावों के स्वरूप की व्याख्या शुद्ध व्यक्ति-व्यापार में की है, जब कि शुक्लजी की विशेषता व्यक्ति-सत्ता को लोक-सत्ता के भीतर देखने में है। व्यक्ति लोकबद्ध प्राणी है, उनके विश्लेषण का यह एक मुख्य आधार है।

भावगत द्वन्द्वों के सामाजिकता की खोज, चूंकि शुक्लजी की एक उल्लेखनीय विशेषता है, इसलिए भावों की गति दिशा के निर्देश में कहीं-कहीं वर्ग-दृष्टि या वर्ग-संबंधों का भी संकेत देते चलते हैं। किसी भी भाव की स्थिति को निरपेक्ष रूप में नहीं, बल्कि लोक-जीवन के जटिल व्यापारों के बीच अन्य भावों को परस्पर संबद्धता और विरोध के साथ विश्लेषित करते हैं। विश्लेषण की इस

यथार्थ दृष्टि के चलते शुक्लजी के भाव या मनोविकार-संबंधी निबंध हिन्दी-साहित्य की एक मूल्यवान् धरोहर बन जाते हैं और इसीलिए आज भी उतने ही प्रासंगिक दीखते हैं।

भावों की उपयोगिता की व्याख्या में आचार्य शुक्ल की लोक-मंगलपरक दृष्टि कारगर रही है। भावों के संकुचन और उनके भास्वर रूप के उद्घाटन में शुक्लजी की नैतिक दृष्टि का पता चलता है। सामाजिक ढोंगों और रूढ़ियों का निषेध इस दृष्टि से करते हैं कि इनके चलते भावों का सच्चा स्वरूप बाधित होता है। समाज में घृणा और क्रोध की भी जरूरत है। इन्हें त्याज्य समझनेवाले उपदेशकों पर चोट करते हैं। बुराइयों से घृणा ही की जा सकती है, प्यार नहीं, और घृणा की उपयोगिता इसी बात में है। इसी प्रकार अन्याय और अत्याचार के प्रतिकार में क्रोध की भास्वरता स्पष्ट है। इस प्रसंग में शुक्लजी की नैतिकता का क्रान्तिकारी चरित्र उजागर होता है। अहिंसावाद के प्रचार के दौर में शुक्लजी का यह मत कि अन्याय और अत्याचार के प्रतिकार में आवश्यकतानुसार शस्त्र-प्रयोग भी संभव है—आज अधिक प्रासंगिक है। शुक्लजी ने अपने इस मत का निर्माण भारतीय जीवन की वीरोचित परम्पराओं के आधार पर किया था। आज इसकी प्रासंगिकता इसलिए बढ़ जाती है कि अन्याय और अत्याचार के विरोध की बात करनेवाले ढोंगियों ने शान्तिपूर्ण संक्रमण के संशोधनवाद के नये-नये तेवर अख्तियार किये हैं। हमारी महान् परम्परा शान्तिपूर्ण संक्रमण के संशोधनवाद को खारिज करती है। ●

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और परवर्ती हिन्दी आलोचना

—डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी

जिस प्रकार पश्चिमी समीक्षा-जगत् में हर हवा आई० ए० रिचार्ड्स को छूकर बहती है, लगभग वही स्थिति आधुनिक हिन्दी समीक्षा में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की है। अपने समय तक के हिन्दी-साहित्य का ऐसा कोई कोना नहीं है, जो शुक्लजी के प्रातिभ-प्रकाश से अनालोकित हो और न केवल अनालोकित प्रत्युत उनकी अपनी साधार मान्यता से मण्डित भी। यही कारण है कि परवर्ती हिन्दी आलोचना प्रायः प्रत्येक महत्त्वपूर्ण क्षेत्र में अपना आरम्भ शुक्लजी के पक्ष या विपक्ष से करती है। यद्यपि प्रकट रूप में उनका आलोचन छायावाद तक ही जाता है, पर अप्रकट रूप में छायावादोत्तर साहित्य तक उसकी प्रभा कौंधती है। इसीलिए छायावादोत्तर आलोचना में भी उनका उल्लेख किसी न किसी प्रसंग से होता रहता है। यहाँ तक कि युवा-पीढ़ी की नसों में प्रवाहित होनेवाला साहित्यिक रक्त भी कहीं न कहीं अपने इस पूर्वज से जुड़ा हुआ है। छायावाद और छायावादोत्तर से मेरा मतलब काव्य की पद्यात्मक विधा से उनका सम्बन्ध मुख्यतः और गद्यात्मक विधा से सामान्यतः समझना चाहिए।

क्रमागत पारम्परिक भारतीय चिन्तकों की भाँति शुक्लजी के भी चैन्तनिक-प्रस्थान का केन्द्र-बिन्दु 'स्वभाव की उपलब्धि' ही है—यह आवश्यक है कि जहाँ परम्परा औसत रूप में उसे आत्मवाद के आलोक में व्याख्यायित करती थी—वहाँ शुक्लजी नव-जागरण की धारा में अन्यथा। व्याख्यायित कराते हैं। नव-जागरण की दो मुख्य विशेषताओं का उल्लेख शुक्लजी के संदर्भ में आवश्यक है—एक मनुष्य की सर्वोपरि महत्ता और दूसरी क्रमागत मान्यताओं की बोधगम्य व्याख्या। इसीलिए शुक्लजी 'स्वभाव' का अर्थ 'मानुष-भाव' करते हैं और 'उपलब्धि' का अर्थ 'चरितार्थता' और चरितार्थता लोक-मंगल में। निष्कर्ष यह कि उनके समस्त चैन्तनिक-प्रस्थान का केन्द्र-बिन्दु है—लोकमंगल-पर्यवसायिनी मानुष-भाव की चरितार्थता। उनकी दृष्टि में स्वभावोपलब्धि का यही आशय है और समस्त चिन्तन का यही केन्द्र।

उक्त गंतव्य को केन्द्र में रखकर ही शुक्लजी पारम्परिक चिन्तकों की भाँति अपना तात्त्विक दर्शन, व्यवहार-दर्शन और काव्य-दर्शन निरूपित करते हैं। परवर्ती हिन्दी आलोचना इन तीनों क्षेत्रों की उनकी मान्यताओं का मन्थन करती रही है। सबसे पहले आ० नं० दु० वाजपेयी ने शुक्लजी की तीनों क्षेत्रों की मान्यताओं पर जमकर सांघातिक प्रहार किए। तात्त्विक दर्शन के सम्बन्ध में उन्होंने कहा—"शुक्लजी का विवेचन न तो प्राचीन दार्शनिक पद्धति का अनुसरण करता है और न वे उस प्रकार के सांस्कृतिक और समाजशास्त्रीय अध्ययन में प्रवृत्त हुए हैं--जो आज की आलोचना का अंग हैं"—आगे चलकर उनका निष्कर्ष है कि उनका दर्शन न घर का है और न घाट का—न पूरब का न पश्चिम का—फलतः वे कच्ची जमीन पर खड़े हैं। उनका कहना है कि यदि उन्हें अपनी मान्यताओं का नव दर्शन देना था तो आत्मवादी या पदार्थवादी दृष्टियों से उसकी पुष्टि करनी थी। वाजपेयीजी को शुक्लजी के गति या प्रवृत्तिपरक अद्वैतमुखी तात्त्विक दर्शन में स्पिनोजा की छाया दिखाई पड़ती है। अच्छा होगा—परवर्ती हिन्दी आलोचना में प्रतिफलित पहले-पहल हम उनके तात्त्विक चिन्तन से सम्बद्ध विचारों को ही लें। जहाँ एक ओर पं० गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' उन्हें आत्मवादी कहते हैं वहीं दूसरे लोग उन्हें वस्तुवादी भी मानते हैं। डॉ० रामविलास शर्मा का पक्ष है कि यद्यपि शुक्लजी को सुसंगत रूप से भौतिकवादी कहना ठीक नहीं है तथापि उनकी काव्य-दर्शन-सम्बन्धी मान्यताओं में निहित मूल दृष्टि वस्तुवादी है—अर्थात् वहाँ आत्मवाद पार्श्व में पड़ गया है। उनका तर्क है कि शुक्लजी की ज्ञानमीमांसा वस्तुवादी ही है। डॉ० रामचन्द्र तिवारी अनेक तर्क-वितर्क के साक्ष्य पर उन्हें अद्वैती आत्मवादी ही मानते हैं—पर यह अद्वैत शंकरसम्मत है या आगमसम्मत यह स्पष्ट नहीं हुआ। श्री रंजन सूरिदेव की धारणा है कि वे शुद्धाद्वैतवादी हैं—कारण, उसकी पारिभाषिक शब्दावली का अपने पक्ष में शुक्लजी प्रयोग करते हैं। कुछ लोग नलिनविलोचन शर्मा का साक्ष्य देकर उनके सम्बन्ध में विधेयवाद की भी चर्चा करते हैं और सृष्टि के भौतिक तथा मानसिक विकास को स्पष्ट करने में तो विकासवाद का सहारा लेते ही हैं। यों वे साहित्य में अपने को अभिव्यक्तिवादी और कुल मिलाकर सामञ्जस्यवादी भी घोषित करते हैं। 'विश्वप्रपंच' की भूमिका में पदार्थवाद और आत्मवाद—दोनों की सीमाओं का उल्लेख करने पर बुद्धिवादी भी ठहरते हैं। इस प्रकार शुक्लजी के तत्त्व-दर्शन को लेकर अनेकविध ऊहापोह मिलते हैं। इस सन्दर्भ में मेरी धारणा उनकी विवेचनाओं

के साक्ष्य पर यह है कि वे तत्त्वतः अद्वैतवादी हैं और यह अद्वैत पदार्थ नहीं—चेतना है। चूँकि वे अव्यक्त कूटस्थ चित्तत्त्व के प्रवाह नित्य व्यक्त जगत् को सत्य मानते हैं—इसलिए शांकरधारा के अद्वैती नहीं हैं। आकर्षणापकर्षणमय शक्ति का अधिष्ठान मानते हैं—अव्यक्त अद्वैत चेतन को, अतः शक्ति-शक्तिमान् के समरस अद्वयवाद के पक्षधर प्रतीत होते हैं। सृष्टि की प्रक्रिया में वे त्रिगुणात्मिका प्रकृति का उल्लेख करते हैं—अतः 'शक्ति' के 'प्रकृति' वाले पक्ष को भी मानते हैं। निष्कर्ष यह कि वे कच्ची नहीं, पक्की जमीन पर हैं।

इसी तात्त्विक दर्शन की पीठिका पर शुक्लजी का सदसदात्मक व्यक्त जगत् और उसका व्यवहार-दर्शन प्रतिष्ठित है। शुक्लजी ने कहा कि इस सदसदात्मक व्यक्त जगत् को धारण करनेवाली वृत्ति या आभ्युदयिक व्यवस्था का ही नाम धर्म है - जो न तो नित्य है और न ही उसका सम्बन्ध परलोक या अध्यात्म से है। वह विशुद्ध रूप से सामाजिक है—और उसी सन्दर्भ में उसका उद्भव और विकास हुआ है। यह वृत्ति या धर्म अपनी परिणत दशा में ज्ञान और कर्म की रसात्मक अनुभूति या भक्ति है। उनकी धारणा है कि व्यक्त जगत् का धर्म द्वारा अभ्युदय ही लोकमंगल है—अस्तित्व की रक्षा, रक्षित का पालन और पालित का रंजन है। जगत् चूँकि सदसदात्मक है—अतः उसके मंगल का अर्थ असत् का ध्वंस नहीं—अपितु सत् के अधीन होना है। शुक्लजी की धारणा है कि विश्व के अन्य समृद्ध देशों में केवल 'सामान्यधर्म' की ही बात हुई—यह केवल भारतवर्ष है जहाँ 'विशेष धर्म' की भी बात की गई—लोक या समाज को धारण करनेवाले विशेष धर्म या लोक-धर्म की चर्चा की गई। सरस्वती और दृषद्वती के कूलों पर आर्यशास्त्रानुमोदित जिस धर्म की स्थापना यहाँ हुई—वह वर्णाश्रम धर्म है। इसमें समाज को धारण रखने के लिए ज्ञानबल, बाहुबल, अर्थबल और सेवाबल का विधान है और उत्तरोत्तर की अपेक्षा पूर्व-पूर्व को बल के अर्जन और प्रयोग में कहीं अधिक तप और त्याग की अपेक्षा है। शुक्लजी की दृष्टि में जहाँ की समाज-व्यवस्था में उच्च और निम्न वर्ग में श्रद्धा और स्नेहानुरूप कर्म-विधान नहीं हुआ—वहाँ निम्न वर्ग में उच्च वर्ग के प्रति ईर्ष्या-द्वेष जागना संभव है। योरुप में विशेषकर रूस में ऐसा ही हुआ और लेनिन उस निम्न वर्ग का महात्मा बना रहा। तुलसी ने इसी लोक को 'भेंड़ी की धँसनि' कहा है—'तुलसी भेंड़ी की धँसनि जड़ जनता सम्मान।'

शुक्लजी के इस लोकमंगलवाद अथवा लोकधर्म को लेकर परवर्ती हिन्दी आलोचना में बड़ा कोलाहल मचा। यह कोलाहल वाजपेयीजी से लेकर डॉ०

नामवर सिंह तक सुनाई पड़ता है। सबसे पहले वाजपेयी जी ने कहा—"राम-चरितमानस के जिस व्यापक आदर्श की ओर शुक्लजी सबसे अधिक आकृष्ट हैं—वह है लोकधर्म का आदर्श—जहाँ कर्तव्य की ही प्रधानता है—किसीको अपने अधिकारों का ध्यान नहीं रहता—सबको कर्तव्य का ही पालन करना है। इसी आदर्शात्मक लोकधर्म में शुक्लजी की वृत्ति रम गई है—इस त्यागमय धर्म को ही वे व्यवहार-मार्ग मानने लगे हैं।" दूसरे यह भी कि वाजपेयीजी की दृष्टि में शुक्लसम्भाग लोकधर्म परम्पराप्राप्त मान्यताओं के अनुकूल नहीं है। दूसरी ओर उनके लोकधर्म या विशेष वर्णाश्रम धर्म को लेकर उन्हें ब्राह्मण-वादी, पौरोहित्यवादी, पुनरुत्थानवादी, प्रच्छन्न हिन्दूवादी—आदि न जाने क्या-क्या कहा गया। इसके लिए डॉ० रामविलास शर्मा की 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना'—पुस्तक द्रष्टव्य है। डॉ० शर्मा ने अत्यन्त पराक्रम के साथ इन आक्षेपों को समाहित किया है, केवल लेनिन और 'जड़जनता'—वाले विन्दुओं को छोड़कर।

शुक्लजी के लोकधर्म के विरुद्ध एक नया अध्याय आ० ह० प्र० द्विवेदी के विवेचन से खुलता है। उन्होंने अपने बहुचर्चित शालीन ढंग से लोकधर्म की एक भिन्न ही अवधारणा व्यक्त की है—जिसके कारण लोगों ने दोनों आचार्यों को आमने-सामने खड़ा करके भिड़ा दिया है। आचार्य शुक्ल का 'लोकधर्म' और 'मनुष्य'—बहुत कुछ तुलसी-साहित्य के तथा द्विवेदीसम्मत 'लोकधर्म' और 'मनुष्य' कबीर-साहित्य के साक्ष्य पर समाधृत हैं। शुक्लजी लोकधर्म आर्यशास्त्रा-नुमोदित है—उसमें बुद्धिसंगत वर्णाश्रमवादी चेतना अन्तर्भुक्त है—वह औसत जनधर्म है। दूसरी ओर द्विवेदीजी ने जड़ होते हुए शास्त्रीय लौह ढाँचों के प्रति लोक की क्रांतिकारी ऊर्ध्वगामी चेतना को लोकवाद या लोकधर्म कहा है—जो व्यक्तिविशेष के माध्यम से प्रकट होता है—यह क्रान्तिकारी चेतना शास्त्र-पंथी और लोकभीरु नहीं है—प्रत्युत अनुभवपंथी और अनभैपंथी है। द्विवेदीजी निश्चित रूप से चिदद्वैतवादी और व्यवहार में भी अंतःप्रज्ञा के समर्थक हैं। इसीलिए उन्होंने आत्मगत उच्चतम संभावनाओं की चरितार्थता में बाधक बन रहे शास्त्रीय विधानों के प्रति क्रान्ति की आवाज बुलन्द करनेवाली चेतना को लोकचेतना कहा है। उन्होंने प्रेम की उच्चतम संभावनाओं में रोड़े अटकानेवाले आर्यमार्ग या 'आरजपंथ' के प्रति विद्रोही गोपियों में वेदवादियों के विपरीत लोकवादिता देखी थी। उनका विश्वास है कि 'लोक' नगर के विपरीत जानपद चेतना का बोधक नहीं है, प्रत्युत जनपद—नगर—साधारण उस चेतना का बोधक

है जो अर्जित वुद्धिविधान की अपेक्षा अंतःप्रेरणाप्रसूत सहज चेतना के आलोक में अपनी यात्रा तय करता है। दोनों आचार्यों की धारणाएँ आपके सामने हैं—आप तय करें कि कौन लोकधर्म है—औसत जनधर्म है—विधिनिषेधमय धर्म है और कौन व्यक्तिधर्म ? समाज में कबीर और गोपिकाएँ अधिक हैं या उनसे भिन्न ? यह भिन्न जड़ जनता शास्त्र-निर्दिष्ट विधिनिषेध से ही अपनी लोकयात्रा तय करती है—अंतःप्रेरणाप्रसूत सहज चेतना का उनमें कहाँ वास ? नेम और प्रेम में प्रेम वड़ा है—यह सभी मानते हैं—पर कौन जनधर्म है और कौन व्यक्तिधर्म—यह विचारणीय है। द्विवेदीजी का जादू-टोने के माध्यम से बढ़नेवाला जो लोकधर्म है—वह ऐसा प्रशस्त नहीं, अपितु निम्न है। डॉ० नामवर सिंह ने इसी संदर्भ में एक को समझौतावादी और दूसरे को क्रांतिकारी कहते हुए यह भी वताया कि शुक्लजी तभी कवीर को समाज-सुधारक और द्विवेदी जी क्रांतदर्शी कहते हैं। वस्तुतः शुक्लजी ने कवीर को कहीं भी समाजसुधारक नहीं कहा है—वह तो पाश्चात्यों का मत उद्धृत किया है। वास्तव में दोनों आचार्यों के दृष्टिभेद को दृष्टिगत करना चाहिए न कि उन्हें आमने-सामने खड़ा करके भिड़ाना।

शुक्लजी के चिन्तन का तीसरा और विशेष क्षेत्र है—काव्य-चिन्तन। वाजपेयीजी ने इस क्षेत्र में भी शुक्लजी की मान्यताओं का विरोध किया और कहा कि एक वात जिसे शुक्लजी वार-वार भुला देते हैं—वह यह कि एक ही प्रतिमान—वह चाहे शक्ति-शील पर आधारित सौंदर्य या रस का हो अथवा लोक-मंगलवाद का सर्वत्र असंचारणीय है। उनका मानदण्ड प्रगति पर अभ्यास हो जाता है। दूसरे उनका यह निष्कर्ष असाहित्यिक है कि सौंदर्य केवल राम के चरित्र में है—रावण के नहीं। काव्य अखण्ड होता है और उसका सौंदर्य भी। शुक्लजी के रसवाद और साधारणीकरण के विरोध में पं० केशवप्रसादजी ने भी अपना विरोधी मत दिया—जिसे वावू श्यामसुन्दरदास ने अपने साहित्यालोचन में उद्धृत किया और मतलव यह कि भीतर-भीतर वे उस खण्डन से भी सहमत थे। पं० केशवप्रसादजी ने कहा कि शुक्ल की वस्तुवादिता ही थी जो उन्हें भाव की अपेक्षा आलम्बन वस्तु के महत्त्व की ओर खींच ले गई। उनकी अतिरिक्त नैतिकतावादी वृत्ति के कारण ही मिश्रजी ने उन्हें भट्टनायक के समकक्ष रखा और भाववादी स्वयम् को अभिनवगुप्त के साथ। डॉ० नगेन्द्र ने शुक्लजी के तादात्म्य पर्यवसायी साधारणीकरण का ही प्रत्याख्यान नहीं किया, वाच्यार्थ में ही काव्यगत सौन्दर्य होता है—का भी प्रतिवाद किया। दूसरी ओर डॉ० रामलाल सिंह ने शुक्लजी के रसवाद पर अनुभववादी लाक्

के दर्शन से प्रभावित एडीसन के कल्पनाजन्य आनन्दवाले सिद्धान्त का प्रभाव देखा—जब कि पण्डित विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने रसतरंगिणीकार के लौकिक रस-वाले सिद्धान्त का प्रभाव निरूपित करते हुए उन्हें भारतीय निजता की रक्षा करनेवाला आचार्य बताया। डॉ० रामविलास शर्मा ने आचार्य शुक्ल की वकालत अपने ढंग से करते हुए यह बताया कि उनका रस-सिद्धान्त एडीसन का परिष्कार है—उन्हें वही कल्पना मान्य है जो रस-प्रेरित और रस-पर्यवसायी हो। डॉ० शर्मा के अनुसार यह शुक्लजी हैं जिन्होंने हिन्दी का अपना काव्य-शास्त्र निर्मित किया। इन लोगों के अनुसार शुक्लजी ने साहित्य में व्यक्तिवादी, सामंतवादी तथा रहस्यवादी वृत्तियों का खण्डन किया और जनमंगलवादी प्रतिमान पर साहित्य को मूल्यांकित किया। शुक्लजी की निर्णयात्मक आलोचना से असहमत रहकर भी वाजपेयीजी ने '६५ में यह स्वीकार किया कि यदि शुक्ल-निर्दिष्ट व्याख्यात्मक समीक्षा की पद्धति हिन्दी में चली होती—तो आज हिन्दी-साहित्य में आलोचना का रूप ही कुछ और होता। शुक्लजी की पश्चिमी समीक्षकों पर की गई प्रतिक्रिया में क्रोचे के साथ अन्याय का हवाला अनेक संतुलित-असंतुलित समीक्षकों ने दिया और कहा कि क्रोचे के अभिव्यंजनावाद को भारतीय वक्रोक्तिवाद का विलायती उत्थान कहना निराधार और असंगत है। डॉ० नगेन्द्र तो रिचर्ड्स को उनसे अधिक बुद्धिमान् भी बताया। उनकी प्रायोगिक समीक्षाओं में जायसी की भूमिका की सभी ने प्रशंसा की, निबन्धों की सभी ने श्लाघा की। इतिहास-लेखन में नलिनजी ने उनकी विधेयवादी पद्धति पर ग्रियर्सन का ऋण बताया और विजेन्द्रनारायण ने विकास की मार्क्सवादी पद्धति का संचार किया। इतिहास के विभिन्न कालों पर परवर्ती आलोचना में पर्याप्त क्रिया-प्रतिक्रिया हुई है। प्रत्येक काल-खण्ड पर जो पक्ष-विपक्ष आए हैं—अत्यन्त महत्त्व के हैं। विदेशी आक्रमणों के संदर्भ में हिन्दी-साहित्य के इतिहास को देखने की अपेक्षा डॉ० ह० प्र० द्विवेदी का विचार है कि भारत की स्वाभाविक चिन्ता—लोक और शास्त्र के संघर्ष के संदर्भ में देखना उत्तम होता। अन्य लोगों ने वर्ग-संघर्ष के संदर्भ में भी इस विकास को रूपायित करने पर बल दिया है।

निष्कर्ष यह कि शुक्लजी परवर्ती आलोचना में पर्याप्त चर्चित हुए हैं और इस चर्चा ने हिन्दी आलोचना को गति दी है। एक बात अवश्य है कि उनकी सीमा को दृष्टिगत न करके जो फतवे दिए गए हैं—उन पर पुनः विचार होना चाहिए और एक बार उनके गम्भीर पुनराख्यान की आवश्यकता की पूर्ति होनी चाहिए। ●

आचार्य शुक्ल की आलोचना-दृष्टि

—डॉ० महेन्द्रनाथ राय

साहित्य-जगत् में सामान्य धारणा है कि—

—आलोचक उन्नत साहित्य संस्कारोंवाला एक विशिष्ट पाठक एवं मर्मी भावक होता है। उसमें भावबोध की गहरी क्षमता, सहृदयता, विधायक कल्पना-शक्ति और अन्तर्दृष्टि-सम्पन्नता तो होती ही है, साथ ही मर्म-उद्घाटन की व्याख्या और विश्लेषण की असाधारण शक्ति भी होती है। इस शक्ति के बल पर ही वह कृतिविशेष की अन्तर्वस्तु और अभिव्यक्ति शिल्प की विशेषताओं का उद्घाटन करता है। वस्तुतः कृति को एक संश्लिष्ट इकाई मानकर उसके समग्र वैशिष्टय का निरूपण रचनाकार की रचनाधर्मिता के समानान्तर आलोचक का सृजनशील प्रयास है। प्रत्येक आलोचक के साहित्यबोध और आलोचना-सिद्धान्त के निर्माण में समकालीन साहित्य और युगीन चेतना का महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। अपनी साहित्य-विषयक सूझ-बूझ एवं धारणाओं के अनुकूल ही वह किसी कृति के अर्थ एवं अभिप्राय को उद्घाटित करता है। बहुत दूर तक उसका वर्ग-चरित्र उसके साहित्यबोध एवं संस्कारों को प्रभावित करता है, उसके सोच एवं चिन्तन को अनुकूलित करता है। किसी युग की साहित्यिक प्रवृत्ति, मूल्यचिंता एवं समीक्षात्मक विवेक से समकालीन रचनाकार एवं आलोचक दोनों को ही कमोवेश प्रभावित होना पड़ता है। युगचेतना के समानान्तर रचना के और रचना के समानान्तर आलोचना के निकष बदलते रहते हैं। परवर्ती आलोचक को अपनी पूर्ववर्ती आलोचना से प्रायः कुछ न कुछ शिकायत इसी वजह से रही है। शायद ही ऐसा कोई आलोचक हो जो अपने गहरे आलोचनात्मक विवेक, सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि एवं गंभीर भावबोध के बावजूद किसी विशेष प्रतिबद्धता या आग्रह के कारण किसी कृति के समुचित मूल्यांकन में स्खलित होने से बच गया हो। यह आलोचक की सीमा है।

आलोचना आलोचक की साहित्यिक पकड़, सूझ-बूझ, बोधशक्ति, मूल्यदृष्टि एवं विश्लेषण-सामर्थ्य की परीक्षा है। एक सचेत आलोचक युगबोध के परिप्रेक्ष्य

में साहित्य-सिद्धान्तों के पुनराख्यान, नए मूल्यों की खोज और प्रतिष्ठा, जीवन और साहित्य के पारस्परिक संबंधों के विवेचन तथा साहित्य के आस्वादन के स्वरूप-निर्धारण के लिए प्रयत्नशील देखा जाता है। रचनाकार की सामाजिक सम्पृक्ति के अनुसार ही रचना में भाव या विचार के स्तर पर गहराई और व्यापकता आती है। रचनान्तर्गत वस्तु और उसकी अभिव्यक्ति के मूल्यांकन के लिए हम ऐसे आलोचक की अपेक्षा करते हैं जिसमें पर्याप्त यथार्थबोध, अनुभव-सम्पन्नता, सूक्ष्म सौन्दर्य-चेतना एवं अन्तर्दृष्टि, सघन भाव-बोध, रसग्रहण की प्रतिभा एवं विश्लेषण-सामर्थ्य हो। किसी कृति के भावात्मक प्रभाव का संगत प्रतिविन्यास आलोचना का आरंभिक स्तर है। किसी रचना की संवेदनात्मक प्रतिक्रिया अन्ततः निजी और एक सीमा तक वैयक्तिक ही होती है। प्रतिक्रिया व्यक्त करनेवाला घटक जड़ नहीं होता, फलतः उसे निजी संस्कारों और आग्रहों से यह प्रतिक्रिया किसी न किसी स्तर पर प्रतिच्छायित होती है। आलोचना न तो मात्र वैयक्तिक प्रतिक्रियाओं का प्रकाशन है और न एक दूरी रखते हुए तटस्थ मूल्यांकन। वह संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक संवेदन का अन्तर्विलयन है। रचनाशीलता के परीक्षण के लिए आलोचक में रचना की वस्तु और अभिव्यक्ति-कला की वारीकियों का सूक्ष्म बोध होना चाहिए। रचना से मानसिक स्तर पर तादात्म्य के बिना यह संभव नहीं। भाव और विचार-जगत् पर किसी कृति के प्रभाव-विश्लेषण से आलोचना की शुरुआत होती है। वह रचना से संवेदित होकर ही सार्थक बनती है। "जो आलोचक किसी कृति को अपनी स्थापनाओं की पुष्टि के उदाहरण के रूप में लेते हैं, वे कभी भी कृति के साथ अपने मतवाद के कारण न्याय नहीं कर पाते। आलोचक को उस मनोवैज्ञानिक स्थिति को समझना होता है जिसमें लेखक रचता है। उसे एक साथ ही साहित्यांकित जीवन और साहित्य-सृजन की मूलाधार जीवन-भूमि को हृदयंगम करना होता है। इस बुनियादी कर्तव्य का निर्वाह करके ही आलोचक अपने अन्तःकरण की मर्मग्राही शक्ति का परिचय देता है। भींगकर कही हुई जीवनविवेकपूर्ण जरा-सी बात का मूल्य सैद्धांतिक आवेश में कही हुई बातों से अधिक होता है। यदि आलोचक स्वयं में भींगा हुआ है, मानव-हृदय और मानव-प्रकृति में यदि वह मर्मदृष्टि रखता है, अनुभवसम्पन्न, भावगंभीर विश्लेषण कर सकता है, तभी वह लेखक का घनिष्ठ और आत्मीय बन सकता है। यदि साहित्य-सृजन एक संघर्ष है तो आलोचना एक प्रेम-दर्शन है। ऐसा प्रेम-दर्शन जो आवश्यकता पड़ने पर अतिशय कठोर भी होता है किंतु सामान्यतः

वह उदार और कोमल रहता है।'[1] आशय यह कि आलोचक में सघन जीवनानुभव के साथ ही रचना में व्यक्त अनुभूति के विविध स्तरों को हृदयंगम करने के लिए सहृदयता, भावप्रवणता, मर्मग्रहण और मर्मविश्लेषण की अपेक्षित क्षमता अपरिहार्य है। सारी विश्लेषण-प्रतिभा के बावजूद भावबोध और मर्म-ग्रहण के अभाव में उसकी आलोचना निस्तेज सिद्ध होती है। इसी तरह उसमें अपने ही अनुभव से एक कलात्मक दूरी और वस्तुपरकता भी होनी चाहिए। रचनान्तर्गत व्यक्त अनुभव की सर्जनात्मक पकड़ के साथ ही उसके आशय की लघुता या विराटता को जाँचने के लिए आलोचक से नैतिक ईमानदारी एवं मूल्य-विवेक की माँग होती है। वस्तु-जगत् और जीवन-यथार्थ से घनिष्ठ संबंध रखने के कारण रचनाकार की रचना में जैसे शक्तिमत्ता और प्रभावोत्पादकता आती है वैसे ही रचनाकार और रचना के अन्तर्बाह्य से निकट सम्पर्क और मानसिक लगाव से आलोचक की आलोचना प्राणवान् एवं विश्वसनीय बनती है। कृति की अन्तर्वस्तु की पकड़ तथा वस्तु और शिल्प की संश्लिष्टता को सही ढंग से समझने तथा उसकी विशेषताओं को उजागर करने के लिए आलोचना को रचना के समानांतर रचनात्मक बनना होता है। प्रत्येक रचना एक विशेष प्रकार की सांस्कृतिक दृष्टि एवं मूल्यवत्ता की वाहक होती है। रचनाकार के जीवन-क्रम तथा उसकी मानसिकता से अनभिज्ञ आलोचक उसके कृतित्व का सम्यक् विश्लेषण कभी कर ही नहीं सकता। साहित्य जिस प्रकार जीवन से अन्योन्याश्रित है वैसे ही आलोचना साहित्य से। सारे दर्शन और शास्त्र मनुष्य के लिए हैं। मनुष्य ही साहित्य के केन्द्र में है। साहित्यांकित मानव-जीवन की मूल्यपरकता का विश्लेषण ही आलोचना का वास्तविक धर्म है। "इस प्रकार आलोचक का कार्य लेखक से कहीं अधिक तन्मयतापूर्ण और सृजनशील होता है। उसे एक साथ ही जीवन के वास्तविक अनुभवों के समुद्र में डूबना पड़ता है और उससे उबरना भी पड़ता है जिससे लहरों का पानी उसकी आँखों में न घुस पड़े।.....यदि साहित्य जीवन का उद्घाटन है तो आलोचक को जानना ही पड़ेगा कि उद्घाटित जीवन वास्तविक जीवन है कि नहीं। साहित्य में व्यक्ति-चरित्रों का, मानव-मूल्यों का, जीवन-प्रवृत्तियों का उदघाटन होता है। जिन्दगी से तटस्थ रहकर, उसके साहित्यिक प्रतिबिंबों की नाप-जोख करने-वाला आलोचक सामाजिक प्रतिष्ठा के शिखर पर फटी हुई पताका की एक

---

१. नई कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबन्ध, मुक्तिबोध, प्रथम संस्करण, पृ० १००,१५१।

लहर भले ही हो जाय, वह उस शिखर के नीचे बैठी हुई देवमूर्ति की स्थापना करनेवाले अनगिनत लोगों का जीवन नहीं समझ सकता।[1]

हिन्दी आलोचना में आलोचना की कोई सर्वमान्य पद्धति नहीं रही है। ऐतिहासिक, निर्णयात्मक, नीतिवादी, सौष्ठववादी, अभिव्यंजनावादी, मनोवैज्ञानिक, तुलनात्मक, मार्क्सवादी, शैली वैज्ञानिक, संरचनावादी आदि बीसियों पद्धतियाँ प्रचलित रही हैं। इन सबकी अपनी लब्धियाँ और सीमाएँ हैं। स्थिति यह रही है कि आलोचक कृति को कभी युग की चिन्ताधारा की कसौटी पर कसते रहे हैं तो कभी उसे ऐतिहासिक और सामाजिक परिप्रेक्ष्य में विवेचित करते रहे हैं। कभी संवेदनशील पाठक की दृष्टि से रचना-सौन्दर्य का मूल्यांकन किया जाता रहा है तो कभी उसके परीक्षण का आधार वैयक्तिक दृष्टिकोण और अभिरुचि रही है। कभी रचना की निरपेक्ष स्वतंत्र सत्ता स्वीकार कर ली गई है तो कभी उसे व्यवस्था-परिवर्तन के अस्त्र की अहमियत मिल गई है। कभी रचना-वस्तु पर ध्यान केन्द्रित किया गया है तो कभी रूप-पक्ष पर। इस प्रकार रचना और रचनादर्शों के समानान्तर उसके मूल्यांकन के प्रतिमान भी गतिशील रहे हैं।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल न केवल हिन्दी-साहित्य के वल्कि सम्पूर्ण भारतीय साहित्य के उन मनीषी एवं युगप्रवर्तक समीक्षकों में हैं जो प्राचीन आचार्यों की परंपरा में आते हैं। वे हिन्दी के युग-विधायक आलोचक तो हैं ही, आधुनिक भारतीय साहित्य में भी उनकी टक्कर के समीक्षक कम हैं। सैद्धांतिक समीक्षा के क्षेत्र में उनका योगदान अत्यन्त महत्त्व का है। उन्होंने हिन्दी के शीर्षस्थ कवियों - तुलसी, सूर, जायसी की तात्त्विक समीक्षा द्वारा आधुनिक भारतीय साहित्य में साहित्य-समीक्षा का अत्यन्त विशिष्ट स्वरूप प्रस्तुत किया है। उन्होंने आधुनिक मनोविज्ञान एवं समकालीन युगवोध के परिप्रेक्ष्य में रससिद्धांत को नये ढंग से परिभाषित करते हुए उसे पुनर्प्रतिष्ठित किया है। हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ समीक्षक होने के साथ ही आचार्य शुक्ल सर्वोत्कृष्ट निवन्धकार और इतिहासकार भी रहे हैं। यदि उनके विवेचनात्मक निवन्ध हिन्दी-साहित्य की वहुमूल्य सम्पत्ति हैं तो उनका हिन्दी-साहित्य का इतिहास इतिहास होने के साथ ही हिन्दी-साहित्य का विश्वकोष भी है। ऐतिहासिक बोध और सूक्ष्म साहित्य-चेतना की दृष्टि से

---

१. नई कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निवन्ध, मुक्तिबोध, प्रथम संस्करण, पृ० ९९।

समस्त भारतीय साहित्य के इतिहासों में इसका अन्यतम स्थान है। शुक्लजी की समीक्षात्मक कृतियों और हिन्दी-साहित्य के इतिहास को पढ़े बिना हिन्दी-साहित्य का वास्तविक अवबोध सम्भव नहीं। साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र में उन्होंने प्राचीन आचार्यों की परम्परा को सही अर्थों में आगे बढ़ाया है। वे असामान्य कोटि के शोधकर्ता एवं सम्पादक रहे हैं। उनकी यह विशेषता जायसी ग्रंथावली, भ्रमरगीतसार, तुलसी ग्रंथावली और हिन्दी-साहित्य के इतिहास में उजागर है। इस प्रकार आचार्य शुक्ल का हिन्दी के आलोचनात्मक एवं सर्जनात्मक क्षेत्रों में असाधारण महत्त्व है। उनकी कृतियाँ उनकी कीर्ति की अक्षय स्मारक हैं।

शुक्लजी जिस युग में अवतरित हुए थे, आलोचना का वह शैशव-काल था। द्विवेदी-युग के साहित्यकारों द्वारा साहित्य-चिन्तन की जहाँ मात्र नींव डाली गई थी, वहाँ आचार्य शुक्ल ने अपने गहरे भावबोध, सामंजस्यपूर्ण आलोचनात्मक विवेक एवं गहरी साहित्यिक अन्तर्दृष्टि द्वारा साहित्य-चिन्तन का एक आकर्षक एवं भव्य प्रासाद खड़ा किया। लोकमंगल एवं लोकादर्श से समन्वित रसवादी चिन्तन, मर्मोद्घाटन की अपूर्व क्षमता, पाश्चात्य एवं पौरस्त्य साहित्य-सिद्धांतों की युगानुकूल मनोवैज्ञानिक व्याख्या तथा जीवन और साहित्य के अन्योन्याश्रित वस्तुपरक विश्लेषण द्वारा युगविधायक आलोचनात्मक मानों की प्रतिष्ठा उनके ऐतिहासिक महत्त्व के कार्य हैं। एक सचेत आलोचक के कर्तव्य का उन्होंने जिस गम्भीरता से निर्वाह किया, साहित्य-सम्बन्धी सूझ-बूझ को जिस प्रकार विकसित, रुचि को परिष्कृत और दृष्टिकोण को व्यापक बनाया, यह उन्हीं जैसे मनीषी आचार्य के वश की बात थी। गम्भीर एवं व्यापक अध्ययन-मनन के साथ ही साहित्य के मर्म को पकड़ने, उसके सौन्दर्य को पर्त-दर-पर्त उकेरने, रचनान्तर्गत वस्तु और शिल्प की विशेषताओं को उद्घाटित करने तथा लोकादर्श एवं लोकमंगल की चेतना से अनुस्यूत, मनोवैज्ञानिक आधार पर पुष्ट एवं विकसित अपने मूल्यपरक रसवादी दृष्टिकोण से किसी कृति के समग्र प्रभावांकन की उनमें अपूर्व क्षमता थी। अपने साहित्य-सिद्धान्तों में अभूतपूर्व निष्ठा एवं दृढ़ता के कारण सारे विरोध के बावजूद उनके साहित्य-समीक्षा सम्बन्धी प्रतिमान कभी किसीके लिए ढीले नहीं हुए।

एक श्रेष्ठ एवं सचेत आलोचक और उसकी आलोचना के सन्दर्भ में जिन विशेषताओं और अर्हताओं की चर्चा आरम्भ में हुई है, आचार्य शुक्ल और उनकी आलोचना में वे बहुलांश में विद्यमान हैं। आचार्य शुक्ल ने साहित्यिकों

के समकालीन साहित्य-बोध को सुसंस्कृत और व्यापक बनाने की दिशा में स्तुत्य योगदान किया। उन्होंने यदि एक ओर दरबारी परम्परा से जुड़े रीतिकालीन साहित्य के चमत्कारवाद, रूपवाद, अनुरंजनवृत्ति, देहाश्रयी शृंगारिक वृत्ति, संकीर्ण भावभूमि और साहित्य-रूढ़ियों का सक्रिय विरोध किया, वहीं छायावाद की समृद्ध रचनाशीलता पर ध्यान केन्द्रित करते हुए उसकी समस्त कलावादी, रूपवादी रुझानों, अतिशय सूक्ष्मता, कल्पनातिशयता, सीमित अर्थभूमि के प्रति कठोर रुख अपनाया। उन्होंने साहित्य की निरपेक्ष सत्ता स्वीकार नहीं की। वे कलागत नैतिकता के आग्रही, काव्य-प्रकृति से अधिक काव्य-प्रयोजन पर ध्यान केन्द्रित करनेवाले समीक्षक थे। ऐसा नहीं है कि शुक्लजी में काव्य-प्रकृति का कम बोध रहा हो। जायसी, सूर, तुलसी, घनानन्द और अन्य दूसरे कवियों की भावसम्पदा का सहृदयतापूर्ण विश्लेषण कर वे अपनी रसग्राहिणी प्रतिभा का समुचित परिचय देते हैं। निराला की बहुवस्तुस्पर्शिनी प्रतिभा की उन्होंने खुलकर प्रशंसा की है। शुक्लजी के समीक्षा-सिद्धांतों और आलोचनात्मक दृष्टिकोण के महत्त्व को तत्कालीन राष्ट्रीय परिवेश और युगीन आवश्यकता के सन्दर्भ में समझा जा सकता है। उन्होंने कलावादी आन्दोलनों का विरोध किया। प्रकृत काव्य संवेदना और कलावाद में उन्होंने परस्पर विरोध देखा। जिस छायावाद के विरोधी के रूप में उन्हें ख्याति मिली, उसी युग में साहित्य-सम्बन्धी उनके चिन्तन का पूर्ण विकास हुआ। अगर ध्यान से देखा जाय तो बहुत अंश तक आचार्य की रुचियाँ, संस्कार और काव्यबोध-सम्बन्धी विचार छायावाद-युग के मेल में थे। छायावादियों की तरह ही वे अपनी आलोचना में सहृदयता, भावुकता, तन्मयता, आत्मप्रसार, कल्पना, बिम्ब-विधान और प्रतीक-विधान का बहुल प्रयोग करते दिखाई पड़ते हैं। प्रदर्शनार्थ प्रयुक्त चमत्कार, कौतूहल, वक्रता आदि के वे प्रशंसक नहीं। उनकी भावुकता भावोच्छ्वास मात्र तक सीमित नहीं। वे अनुभूतियों की गहनता और उनकी बृहत्तर सामाजिकता पर बल देते हैं। कला के लोकविरोधी उपयोग के वे विरुद्ध रहे हैं। जिस कलावाद से उन्हें परहेज है उसका स्पष्ट उल्लेख रसमीमांसा में है—"यदि कला का वही अर्थ लेना है जो कामशास्त्र की चौंसठ कलाओं में है—अर्थात् मनोरंजन या उपभोग मात्र का विधायक—तो काव्य के सम्बन्ध में दूर से ही उसे नमस्कार करना चाहिए।" शुक्लजी की राय में रचनावस्तु से विच्छिन्न कलात्मकता निरर्थक है। वस्तु और रूप की संश्लिष्टता के कारण ही कोई कृति कृति बनती है। लोक-मंगल के लक्ष्य से च्युत साहित्य को

वे साहित्य मानने को तैयार नहीं। लोकमंगल और लोकसंग्रह की अवज्ञा करनेवाले लालित्य-तत्त्व एवं सौन्दर्य-तत्त्व में वे सिर्फ ऊपरी तड़क-भड़क पाते हैं। लोकसत्ता में आत्मसत्ता का विलयन उनकी दृष्टि में सृजनशीलता का मूलाधार है। लोक और साहित्य के घनिष्ठ सम्बन्ध को स्वीकार करने के कारण ही वे साधारणीकरण के सिद्धांत को पुनर्जीवित करते हैं, व्यक्तिवैचित्र्यवाद के प्रति कठोर रुख अपनाते हैं। उनके मत से श्रेष्ठ साहित्य हृदय को प्रकृत दशा में लाने, आत्मविस्तार करने और मनुष्यत्व की उच्चभूमियों की ओर अग्रसर कराने का माध्यम होता है। वह शेष सृष्टि से हमारे रागात्मक सम्बन्धों के निर्वाह और उनकी रक्षा में सहायक बनता है। शुक्लजी रसानुभूति, साधारणीकरण आदि के प्रसंग में प्रत्यक्षानुभूति, लोक-हृदय या सामान्य हृदय की अनेक बार चर्चा करते हैं, आलम्बनत्व धर्म के साधारणीकरण पर विशेष जोर देते हैं किन्तु 'लोकोत्तर' या 'अनिर्वचनीय' जैसे रहस्यवाची शब्दों को एक व्यंग्यात्मक मुद्रा अपनाते हुए व्यवहृत करते हैं। यह अकारण या आकस्मिक नहीं है। साहित्य के लोकधर्मी स्वरूप में उनकी आस्था ही इसका कारण है। उनकी रस-सम्बन्धी धारणा पुराने काव्यशास्त्र के रस से भिन्न है, साथ ही आधुनिक विचारकों की कलावादी धारणा से भी भिन्न है। उनके अनुसार सच्चे कवि का कवि-धर्म लोक-हृदय की सच्ची पहचान से जुड़ा है। तथ्य यह है कि "ज्ञान की विभिन्न शाखाओं से बहुज्ञान-समन्वित दृष्टि प्राप्त करके शुक्लजी ने अपना आलोचना-कार्य सम्पन्न किया था। उन्होंने हिन्दी-साहित्य के आरम्भ में ही जनता की चित्त-वृत्तियों का सम्बन्ध सामाजिक परिस्थितियों से जोड़ा था। जो लोग साहित्य को, मनुष्य की चित्तवृत्तियों को समाज से पूरी तरह स्वतन्त्र मानते थे, उनसे शुक्लजी का रास्ता अलग था।....उन्होंने हिन्दी-साहित्य के अध्ययन के लिए अखिल भारतीय परिप्रेक्ष्य निश्चित किया था।"[१]

शुक्लजी ने अपने साहित्य विषयक चिन्तन को बहुत अंश तक अपनी व्यावहारिक समीक्षाओं के माध्यम से पुष्ट किया है। इनकी सैद्धान्तिक समीक्षा का आधार-ग्रन्थ 'रसमीमांसा' है। इसमें उन्होंने रससिद्धान्त को मनोवैज्ञानिक आधार प्रदान करते हुए जीवन और साहित्य के अन्तर्सम्बन्धों की वैज्ञानिक व्याख्या की है। उन्होंने रसों के प्रवर्तक भावों को अभिनव ढंग से बड़ी सूक्ष्मता

---

१. लोक-जागरण और हिन्दी-साहित्य : डॉ० रामविलास शर्मा, प्रथम संस्करण, पृ० १.५ (भूमिका-भाग)।

के साथ वर्गीकृत, व्याख्यायित एवं परिभाषित किया है। रस को काव्य की आत्मा स्वीकार करते हुए इसीके अन्तर्गत उन्होंने रीति, वक्रोक्ति, अलंकार, ध्वनि आदि को समाविष्ट कर लिया है। सौन्दर्यानुभूति को भी उन्होंने रसानुभूति के समानान्तर विश्लेषित किया है। रस-प्रक्रिया की उनकी व्याख्या शास्त्रीय न होकर बहुत अंशों में व्यावहारिक है। व्यापक जीवनानुभव और बहुज्ञानसमन्वित दृष्टि के धनी आचार्य शुक्ल ने भारतीय काव्यशास्त्र के प्रदेय पर गंभीरता से विचार करते हुए रीति, वक्रोक्ति, अलंकार, ध्वनि एवं औचित्य को 'रस' के पोषक एवं रक्षक रूप में प्रतिष्ठित किया है। वे अनुभूति को रस या भाव के पर्याय के रूप में ग्रहण करते हैं। वे लोकहृदय में हृदय के लीन होने की स्थिति को 'रसदशा' से तथा हृदय के प्रभावित होने को 'रसानुभूति' से संज्ञायित करते हैं।[१] वे रसानुभूति को प्रत्यक्षानुभूति से सम्पूर्णतः भिन्न न मानने के कारण उसे सुख-दुःखात्मक कोटि का ही स्वीकार करते हैं। उनके मत से मनोमय कोश ही काव्य की प्रकृत भूमि है। काव्यानुभूति न तो आनन्दमय कोश की अनुभूति है और न लोकोत्तर ही है। भेद मात्र इतना है कि संसार में जहाँ हम व्यक्तिगत योग-क्षेम से जुड़े रहते हैं वहाँ रसानुभूति वैयक्तिक सीमाओं को अतिक्रमित करने में समर्थ होती है। वे सुख-दुख से परे मानसिक आनन्द की विधायक सिद्ध होती है। रसानुभूति या सौन्दर्यानुभूति दोनों स्थितियों में रसमग्नता या अन्तःसत्ता की तदाकार परिणति को वे अपरिहार्य मानते हैं। रूप, आकृति, कर्म-सौन्दर्य के साथ ही वे अन्तःसौन्दर्य (शील) पर बल देते हैं। गत्यात्मक सौन्दर्य में उनकी विशेष अनुरक्ति है। सौन्दर्य और शिव उनके लिए पर्यायवत् हैं। जगत् को ब्रह्म की व्यक्त सत्ता कहते हुए वे सुन्दर-असुन्दर, मंगल-अमंगल के द्वन्द्व को अनिवार्य कहते हैं। इस द्वन्द्व में ही सौन्दर्य का साक्षात्कार करते हैं। विरुद्धों के सामंजस्य को वे कर्मक्षेत्र के सौन्दर्य की संज्ञा देते हैं।[२] समस्त साहित्य को आनन्द की साधनावस्था और सिद्धावस्था—दो कोटियों में विभक्त कर साधनावस्था या प्रयत्न-पक्ष से जुड़े साहित्य को वे श्रेष्ठ ठहराते हैं। उसमें रमणीयता पाते हैं। प्रयत्न से उनका तात्पर्य है अधर्मवृत्ति के उन्मूलन में धर्मवृत्ति की तत्परता। वे इस तत्परता में गति पाते हैं तथा उसकी प्रशंसा करते हैं। रामायण, महाभारत आदि को आनन्द की

---

१. काव्य में रहस्यवाद : आचार्य शुक्ल, पृ० ८८।

२. चिंतामणि : प्रथम भाग, आचार्य शुक्ल, पृ० २१६।

साधनावस्था की तथा गीत गोविन्द, बिहारी सतसई और फुटकल शृङ्गारी काव्य को आनन्द की सिद्धावस्था की रचनाएँ सिद्ध करते हैं। आनन्द की सिद्धावस्था से जुड़ी कृतियों में चूँकि उन्हें गति का अभाव मिलता है, परिणामस्वरूप इनमें वास्तविक सौन्दर्य का वे निषेध करते हैं। प्रयत्न-पक्ष से जुड़ी कृतियाँ अपने लोकधर्मी स्वरूप के कारण उनकी सहानुभूति पाती हैं। लोकधर्मिता का अभाव देखकर ही उन्होंने कलावाद, अभिव्यंजनावाद, व्यक्तिवैचित्र्यवाद, प्रतीकवाद आदि के प्रति अनुदारता प्रदर्शित की। परोक्षरति पर आधारित रहस्यवादी रचनाओं में भी उनकी रुचि को कुछ न मिला। लोकहृदय की सामान्य भावभूमि का तिरस्कार करने के कारण व्यक्तिवैचित्र्यवाद तथा प्रस्तुत की तुलना में अप्रस्तुत पर अधिक जोर देने के कारण छायावाद और अभिव्यंजनावाद आचार्य को प्रीतिकर न प्रतीत हुए। इसी तरह वक्रोक्तिवाद और अलंकारवाद को वे बहुत गंभीरता से लेने की आवश्यकता नहीं समझते क्योंकि उनकी दृष्टि में साहित्य-सृजन भावसाधना है और यह कर्मसाधना और ज्ञानसाधना के समकक्ष है, व्यंग्य और चमत्कार-सृष्टि का माध्यम मात्र नहीं। रससिद्धांत के मेल में पड़नेवाले एबरक्राम्बी के प्रेषणीयता के सिद्धान्त, एडीसन और कॉलरिज के भावप्रेरित कल्पनावाद तथा रिचर्ड्स के सामान्यीकृत अनुभूतिवाद, कल्पनात्मक अनुभूतिवाद को एक सीमा तक स्वीकार करते हैं। प्रत्यक्षानुभूति, लोकानुभूति से पृथक् काव्यानुभूति के अस्तित्व तक को वे नहीं स्वीकार करते। उनके मतानुसार "जिस प्रकार समस्त भूतों में एक ही तत्त्व की सत्ता मान्य है, वैसे ही मानवमात्र में एक ही सामान्य हृदय की सत्ता मान्य होनी चाहिए। इस सामान्य हृदय का उद्घाटन करके कवि अभेदवाद का समर्थन करता है। जिस प्रकार मुक्त आत्मा समस्त विश्व में एक ही आत्मा का दर्शन करता है, उसी प्रकार मुक्त हृदय समस्त गोचर जगत् में एक ही सामान्य हृदय का प्रसार देखता है। सर्वभूत को आत्मभूत करके अनुभव करना ही काव्य का चरम लक्ष्य है।"[१]

शुक्लजी के समीक्षा-सिद्धान्तों और साहित्य-विषयक अवधारणाओं को उनकी व्यावहारिक समीक्षाएँ पुष्ट करती हैं। तुलसी, सूर, जायसी आदि के साथ ही हिन्दी साहित्य के इतिहास के विविध युगों की प्रवृत्तियों की व्याख्या एवं रचनाकारों के रचना-वैशिष्ट्य से सम्बद्ध उनकी सारगर्भित टिप्पणियों में उनकी व्यावहारिक आलोचना का प्रौढ़तम रूप दृष्टिगोचर होता है। जायसी

१. काव्य में प्राकृतिक दृश्य : चिंतामणि, द्वितीय भाग, पृ० ७।

के कृतित्व को प्रकाश में लाने और उन्हें प्रतिष्ठित करने का श्रेय आचार्य शुक्ल को है। 'पद्मावत' की विषयवस्तु और अभिव्यक्ति के संदर्भ में सर्वथा नूतन ढंग से वे जिन तथ्यों को उजागर करते हैं उनमें भावों के उत्कर्ष, विस्तार या मनुष्य के साथ उसके संश्लिष्ट सम्बन्धों की चर्चा, पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन से जुड़ी प्रेमव्यंजना के वैशिष्ट्य का निरूपण, मानव-जीवन की पूर्णता, विविधता, गतिमयता, घटनाओं की सम्बन्ध-शृङ्खला, प्रसंगों की मार्मिकता आदि की दृष्टि से जायसी की प्रबन्ध-योजना पर विचार मुख्य हैं। अभिव्यक्ति शिल्प के स्तर पर वे कवि की वस्तुओं की संश्लिष्ट योजना द्वारा बिंवग्रहण कराने, अलंकरण-सौन्दर्य पर प्रकाश डालने तथा भावों के उत्कर्ष में अलंकारों के योगदान पर विचार करने के साथ ही उक्ति-वैशिष्ट्य व रूपयोजना के चारुत्व का विश्लेषण तथा बिंवविधान की विशेषताओं के रेखांकन-कौशल का उद्‌घाटन करते हैं।

आचार्य शुक्ल की व्यावहारिक समीक्षा का सर्वाधिक संतुलित एवं प्रौढ़तम रूप भ्रमरगीत की समीक्षा में दृष्टिगोचर होता है। वे सूर के संदर्भ में लोकसंग्रह की वृत्ति के अभाव, वस्तुगांभीर्य की कमी तथा वर्ण्य विषय की परिमिति की चर्चा करने के साथ ही उनकी प्रेमव्यंजना, भावप्रेरित वचनविदग्धता, वचन-वक्रता की विविधता आदि की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं। सूर की प्रतिभा को एकोन्मुखी स्वीकार करते हुए भी उनका दृढ़ मत है कि उन्होंने जिस क्षेत्र को चुना है उस पर उनका अपरिमित अधिकार है।

जायसी की आलोचना में प्रयुक्त आलोचना-पद्धति का उपयोग ही आचार्य शुक्ल ने तुलसी की आलोचना में किया है। उन्होंने तुलसी की भक्ति के स्वरूप-निर्धारण के साथ उससे लोकधर्मिता, मर्यादा, शील आदि का सम्बन्ध स्थापित किया है। उन्होंने तुलसी की भक्ति को शास्त्रानुमोदित मानते हुए उसे लोक-मंगल का विधायक स्वीकार किया है। उनके अनुसार वह राम के असाधारण शील के उत्कर्ष पर आधारित होने के कारण सदाचार को महत्त्व देनेवाली एवं लोकहितकारी है। उनके मत से रामचरितमानस में शक्ति, शील और सौन्दर्य का अनुपम संयोग सहज ही लोकचित्त को आकृष्ट कर लेनेवाला तथा मनुष्य की पूर्णता के प्रति हमें आश्वस्त करनेवाला है। आचार्य शुक्ल तुलसी की भावुकता, भावप्रसार की क्षमता, मर्मस्पर्शी प्रसंगों की उद्‌भावना आदि के लिए उनकी भरपूर प्रशंसा करते हैं। जीवन-संघर्षों के मध्य विकसित राम-चरितमानस की प्रेमव्यंजना का स्वरूप उन्हें जायसी और सूर की तुलना में प्रभावशाली प्रतीत होता है। उनके मतानुसार तुलसी में मानव-प्रकृति का

अद्‌भुत ज्ञान है। उनकी भावव्यंजना में वे असाधारण गहराई पाते हैं। इसीके साथ वे यह कहने से भी नहीं चूकते कि सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति और संश्लिष्ट वस्तुयोजना-सामर्थ्य के रहते हुए भी तुलसी वाल्मीकि और कालिदास की भाँति बाह्य सृष्टि से रागात्मक सम्बन्ध नहीं जोड़ पाते। वे अपने आराध्य में अधिक रमते हैं प्रकृति के रूप-व्यापार में कम। जायसी की तरह ही भावों के उत्कर्ष में सहायक तुलसी की अलंकार-योजना को भी आचार्य शुक्ल सराहते हैं। तुलसी से जुड़ी आलोचना में वे उनकी भक्ति, शील-निरूपण या भावुकता के विवेचन में जितनी रुचि लेते हैं उतनी उनके अभिव्यक्ति-नैपुण्य में नहीं। जायसी और तुलसी की समीक्षाएँ भाव-पक्ष एवं कला-पक्ष के अलग-अलग विवेचन के कारण उस उत्कर्ष को प्राप्त नहीं हैं जैसी काव्यत्वकेन्द्रित 'भ्रमर-गीत' की समीक्षा। कुछ अतिरिक्त मोह और निजी साहित्यादर्शों की पुष्टि के प्रयत्न से जुड़ी तुलसी की समीक्षा सूर-सम्बन्धी आलोचना से स्पष्ट ही कमजोर है। 'भ्रमरगीत-सार' की आलोचना में आचार्य शुक्ल जायसी की आलोचना की तरह अलंकारों की गणना न करके अलंकार और अलंकार्य पर संश्लिष्ट ढंग से विचार करते हैं, प्रेम और सौन्दर्य का मूल्य-स्तर विवेचित करते हैं, फलतः वह उनकी व्यावहारिक समीक्षाओं में सर्वाधिक संश्लिष्ट एवं प्रभावशाली है।

निष्कर्ष यह कि शुक्लजी की साहित्य-सम्बन्धी अवधारणाएँ एवं समीक्षा-सिद्धान्त उनके व्यापक अध्ययन, बहुज्ञानसमन्वित दृष्टि, गम्भीर साहित्यबोध, युगीन चिंतन एवं मूल्य-दृष्टि के परिणाम हैं। वे अनायास या आकस्मिक नहीं हैं बल्कि एक समृद्ध एवं स्वस्थ परम्परा से जुड़े हैं। उनका क्रमशः विकास होता है। आचार्य शुक्ल जिस युग की उपज हैं वह समाज और साहित्य दोनों में आमूल परिवर्तन, रूढ़िविरोध, अभिनव जीवन-दृष्टि, मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा, समृद्ध रचनाशीलता, प्रखर चिंतन एवं वैचारिक क्रांति का युग है। वह कविता, कथा-साहित्य, नाट्य-साहित्य, आलोचना-साहित्य—सभी विधाओं में पूर्ण साहित्यिक उत्कर्ष का युग है। प्रसाद, निराला, प्रेमचन्द इसी युग की देन हैं। आचार्य शुक्ल के व्यक्तित्व एवं कृतित्व के नियमन में उनके युग की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। जन-जागरण और स्वाधीनता-संग्राम से जुड़े राष्ट्रीय परि-वेश और आधुनिक चिंतन से उनका साहित्यबोध और धारणाएँ अनुप्राणित हैं। अपनी गहन भावबोधीय क्षमता, प्रखर चिंतन एवं विश्लेषण-सामर्थ्य, मौलिक सोच और सशक्त अर्थापन प्रतिभा के कारण आचार्य शुक्ल पुराने ऋषि-चिंतकों एवं साहित्यशास्त्रियों के नवीन परिष्कृत संस्करण-से जान पड़ते हैं।

उनके समीक्षा-सिद्धान्तों एवं समीक्षण-पद्धति के महत्त्व को परवर्ती सभी ख्याति-प्राप्त आलोचकों ने सादर स्वीकार किया है। युगानुकूल अपने उन्नत साहित्यादर्शों एवं गंभीर समीक्षात्मक विवेक से उन्होंने हमारे साहित्यिक संस्कारों को सुसंस्कृत एवं परिष्कृत किया है।

प्रत्येक युग में आलोचनात्मक प्रतिमान समकालीन साहित्य और उसकी मूल्यचेतना के समानान्तर निर्मित होते हैं। समकालीन साहित्य के रूप में शुक्लजी के समकक्ष छायावाद-युग का समृद्ध कृतित्व था। उनके द्वारा रससिद्धांत की पुनर्व्याख्या करने, भावयोग को कर्मयोग और ज्ञानयोग के समक्ष स्थापित करने, प्रकृति के समग्र चित्रण और कल्पना पर गम्भीर ढंग से विस्तार से विचार करने तथा साधारणीकरण पर अतिरिक्त ध्यान देने के मूल में कहीं न कहीं छायावाद से उनका द्वन्द्वात्मक रिश्ता प्रमुख कारण बना हुआ था। उस युग की राष्ट्रीय और सांस्कृतिक विचारधारा, उसके नैतिक आग्रह, महात्मा गांधी के साहित्य और कलाविषयक लोकोन्मुख दृष्टिकोण आदि से आचार्य शुक्ल प्रभावित थे। संयोग ही है कि महात्मा गांधी, निराला और आचार्य शुक्ल में तुलसी और उनके 'मानस' के प्रति समान निष्ठा थी। दरबारी परम्परा की साहित्यिक रूढ़ियों के विरोध में आचार्य शुक्ल और छायावादी साहित्यकार समान रूप से ही सक्रिय थे। शुक्लजी एक सीमा तक ही छायावाद से खार खाए बैठे थे और वह सीमा थी छायावादी काव्य की दुरूहता, अस्पष्टता एवं व्यक्तिवादिता की। सकारण इसके प्रति वे आद्यन्त उदार नहीं बने। इस तरह एक आलोचक के दायित्व का पूरी सच्चाई के साथ उन्होंने निर्वाह किया। समकालीन साहित्य, युगबोध एवं राष्ट्र की जातीय विशेषताओं को निरन्तर ध्यान में रखते हुए ही वे सृजनशील बने थे। उनकी अपने समीक्षा-सिद्धान्तों में अपूर्व आस्था थी। उनकी रुचियों, संस्कारों एवं दृष्टि को जहाँ कुछ भी अनुकूल नहीं मिला, वहाँ वे सहृदय नहीं रह सके। उनके लिए समीक्षण-कार्य सचमुच प्रेमदर्शन एवं कठोर अनुशासन दोनों का वाचक था। यह भी संयोग ही है कि एक समय रवि ठाकुर का रहस्यवादी काव्य न महात्मा गांधी को रिझा पाया था और न आचार्य शु.ल को ही। गुरुदेव की कलाविषयक अवधारणा, साहित्य की स्वतंत्र सत्ता सम्बन्धी विचारधारा से न महात्मा गांधी सहमत हो सके थे और न आचार्य शुक्ल हो। शुक्लजी के लोकधर्मी साहित्य-सिद्धान्तों ने समकालीन साहित्य के साथ ही परवर्ती हिन्दी-साहित्य को भी बहुत अंशों तक अनुशासित, अनुकूलित और निर्देशित किया। यह अनुशासन, अनुकूलन और निर्देशन साहित्य-क्षेत्र में अपूर्व गौरव का विषय है। ●

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : युगबोध और निबन्ध-दृष्टि

–डॉ० रामकली सर्राफ

साहित्य समग्रतः या उसकी कोई भी विधा युग और समाज के चरित्र से अनिवार्य रूप से अन्तर्सम्बद्ध होती है। लेकिन, चूंकि साहित्य की अन्य ज्ञान-रूपों से स्वतंत्र पहचान भी है इसलिए युग और समाज से साहित्य का सम्बन्ध कैसे और किस रूप में होता है, समान रूप से एक ही प्रक्रिया का निर्धारण संभव नहीं। क्योंकि कहानी और उपन्यास में व्यक्त युगबोध तथा कविता और निबन्ध में के युगबोध का स्वरूप सूक्ष्म रूप से भिन्न-भिन्न होता है। निबंध की एक अपनी समस्या है कि निबन्ध और युगबोध से सम्बन्ध-निर्धारण कैसे हो तथा आचार्य शुक्ल के निबन्धों में व्यक्त युगबोध को कैसे अलग से उपस्थित किया जाय ?

'निबन्ध' शब्द जितना ही पुराना है, साहित्यिक विधा के रूप में उतना ही आधुनिक भी है। कहानी, उपन्यास, समीक्षा आदि आधुनिक गद्य विधाओं की तरह हिन्दी निबन्ध-रचना को मूल प्रेरणा पश्चिम से ही मिली। पश्चिम में पूंजीवादी क्रांति के फलस्वरूप रचनात्मकता के विविध रूपों का अभूतपूर्व विकास हुआ। इस क्रांति के प्रभाव में समाज-रचना का जो रूप निर्मित हुआ उसमें जीवनगत यथार्थ को मुख्य रूप से अभिव्यक्ति मिली। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं के प्रचार-प्रसार के कारण रोजमर्रे के यथार्थ को ठोस रूप प्रदान करने हेतु निबन्ध-रचना एक ऐतिहासिक जरूरत बनकर उपस्थित हुई। आधुनिक समाज के निर्माण की शुरुआत हमारे देश में पश्चिम की तुलना में कुछ देर में हुई। १९वीं सदी में ब्रिटिश उपनिवेशवाद के प्रभाव और दबाव में पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन प्रारंभ हुआ। हिन्दी निबन्ध-रचना का प्रारंभिक दौर यही माना जाता है। भारतेन्दु ने इस परंपरा की नींव रखी थी जो निरन्तर विकसित और समृद्ध हुई। चूंकि निबन्ध आधुनिक युग की उपज है, इसलिए आधुनिक युग की मुख्य पहचान जिसे हम बौद्धिक-यथार्थ के रूप में रेखाङ्कित कर सकते हैं, निबन्ध भी इससे अछूता नहीं रह सकता। व्यक्तिनिष्ठ निबन्धों की प्रकृति यद्यपि भिन्न होती है फिर भी बुद्धि-तत्त्व की उपस्थिति वहाँ भी अपेक्षित

है। आचार्य शुक्ल के निबंधों का तो मुख्य रूप ही बौद्धिक है। शुक्लजी ने चिन्तामणि भाग १ की संक्षिप्त भूमिका में लिखा है कि—'बुद्धि चली है यात्रा को......।'

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की बौद्धिक-यात्रा उनके युग से किस रूप में अन्त-सम्वद्ध है, यह एक मुख्य प्रश्न है। दरअसल शुक्लजी ने अपने मनोवैज्ञानिक निवन्धों में मनुष्य के मनोभावों के स्वरूप का उद्घाटन किया है। मनोभाव कोई स्थिर सत्ता नहीं है। युगसमाज की गति और प्रवृत्ति से मनोभावों में परिवर्तन आना अनिवार्य है। विना वस्तुगत कारण के भावों की उपस्थिति असंभव है क्योंकि "संसार-सागर की रूप-तरंगों से ही मनुष्य की कल्पना का निर्माण और इसीकी रूप-गति से उसके भीतर विविध भावों या मनोविकारों का विधान हुआ है।"[1] यही कारण है उनके समाज की मानसिकता के रूप ही उनके निबंध के विषय हैं। यद्यपि मनोभावों को आधार वनाकर निवन्ध लिखने की परंपरा शुक्लजी के पहले ही शुरू हो गयी थी परन्तु उस क्षीण परंपरा को जो मजबूती और ऊँचाई शुक्लजी ने प्रदान की, उसके उपरांत शायद बाद में आनेवाले लेखक हिम्मत ही नहीं जुटा सके कि वे मनोभावों को निवन्ध-रचना का विषय बनाये। भारतेन्दु-मण्डल के लेखकों में, बालकृष्ण भट्ट ने मानसिक शक्ति से सम्बद्ध 'आत्मनिर्भरता' नामक निवन्ध लिखा। प्रतापनारायण मिश्र ने 'मनोयोग' और माधवप्रसाद मिश्र ने 'धृति और क्षमा' नामक निबन्ध लिखा पर इन निवन्धकारों ने विशुद्ध भावों की दृष्टि से इन पर विचार किया।

आचार्य शुक्ल के मनोभावों से सम्वन्धी निबन्धों की एक विशिष्ट पहचान यह भी है कि शुक्लजी ने मनोभावों को शुद्ध मनोभावों के रूप में विश्लेषित नहीं किया जैसा कि बेकन आदि पश्चिमी विचारकों ने भी इन पर विचार करते समय मुख्य रूप से ऐसा ही किया है। दूसरे, शुक्लजी भारतीय आध्यात्मिक भाव-वादी धारा से भी अलग दिखायी देते हैं। इनकी मनोभावों की व्याख्या पश्चिमी प्रकृतिवादी अवधारणा से भी भिन्न है। क्योंकि प्रकृतिवादियों ने मानव-प्रकृति का विश्लेषण करते समय सामाजिक उद्देश्यों या उसके लोक पर पड़नेवाले प्रभावों की चर्चा नहीं की वरन् इन विचारकों ने माना है, मनुष्य में जो प्रवृत्ति है उसकी अनियन्त्रित भाव से सिद्धि होनी चाहिए। यद्यपि पश्चिमी विचारक आई. ए. रिचर्ड्स ने मनोभावों पर विचार करते हुए शुद्ध कलावाद को नकारा

१. चिन्तामणि : भाग १, भाव या मनोविकार, पृ० ३।

है लेकिन वर्णित मनोविज्ञान का मुख्य पक्ष व्यक्तिवाद से सम्बद्ध होने के कारण मनोभावों से उत्पन्न सामाजिक परिणामों पर इनकी दृष्टि नहीं गयी। जब कि आचार्य शुक्ल की दृष्टि बराबर लोकबद्ध रही, लोकहित पर टिकी रही— "मनुष्य लोकबद्ध प्राणी है। उसकी अपनी सत्ता का ज्ञान तक लोकबद्ध है।"[1] इन्होंने भावों की गतिमयता को लोकबद्ध प्राणी के भावों की गतिमयता के रूप में बराबर देखने की कोशिश की। इसीलिए इनके निबंधों में युग-समाज की प्रामाणिक मानसिकता उजागर होती है। साथ ही युग और समाज की सीमायें और अन्तर्विरोध भी प्रतिबिम्बित होते हैं। क्योंकि शुक्लजी के निबन्धों में युग सीधे रूप में व्यक्त न होकर मनुष्य के विभिन्न मनोभावों की परस्पर सम्बद्धता-असम्बद्धता, आन्तरिक क्रिया-प्रतिक्रिया का स्वरूप क्या है? और ये बराबर ऐसे रहे हैं या उस युग के वस्तुगत सम्बन्धों की देन हैं? के रूप में व्यक्त हुआ है, जिसे डॉ० रामविलास शर्मा के शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं, "हर मनोविकार का कोई न कोई वस्तुगत कारण होता है।" काव्य का सम्बन्ध मनोविकारों से है और मनोविकारों का सम्बन्ध मनुष्य के व्यवहार-जगत् से। इसलिए व्यवहार-जगत् का ज्ञान प्राप्त किये बिना, उससे भावात्मक सम्बन्ध स्थापित किये बिना कोई भी शुद्ध आत्मानुभूति के बल पर कवि नहीं बन सकता। शुक्लजी के साहित्यालोचन का यह वस्तुवादी सूत्र है—"शब्दकाव्य की सिद्धि के लिए वस्तुकाव्य का अनुशीलन परम आवश्यक है।"[2]

इस प्रकार हरएक भाव का कोई न कोई वस्तुगत कारण अवश्य विद्यमान रहता है, जिन्हें जीवन और समाज के मध्य रखकर ही आचार्य शुक्ल ने देखा, व्यावहारिक और सामाजिक अनुभवशीलता के बल पर इनका विवेचन किया। एक ओर मनोविज्ञानसम्मत व्याख्या की, दूसरी ओर जीवन और समाज की गति से जोड़कर देखा। लोकबद्धता के प्रति यह आग्रह भारतीय नव-जागरण की एक दिशा के रूप में भारतीय लोकमानस के भीतर स्थान ले रहा था। मुख्यतः मनोभाव साहित्यिक विश्लेषण की विषय-वस्तु पहले बन ही नहीं सके, यह शुक्लजी के सामर्थ्य की ही बात थी, जिस सामर्थ्य का निर्माण आधुनिक भारतीय नव-जागरण ने किया था। प्रथम महायुद्ध के दौरान शुक्ल जी ने अवश्य

---

१. चिन्तामणि : भाग २, काव्य में रहस्यवाद।

२. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना : डॉ० रामविलास शर्मा, पृ० २१०।

ही अपने मानसिक विकास की कई मंजिलें पार की होंगी। रूढ़िवादी आस्तिकता से हटकर वह चेतना और संसार के परस्पर सम्वन्ध के नये व्याख्याकार वने, विकासवादी विचारक हैकल की पुस्तक का अनुवाद किया, भक्ति और रीति के सम्वन्ध में अपनी मान्यतायें स्थिर कीं। हिन्दी-साहित्य के सुपरिचित आचार्य शुक्ल का यह विकास प्रथम महायुद्ध के दौरान भारत के नवीन राष्ट्रीय उत्थान के साथ हुआ।[1]

अतः शुक्लजी ने अपने युग की माँग के अनुरूप ही अपने मस्तिष्क का निर्माण किया था और उसीकी अभिव्यक्ति साहित्य में हुई। पुराने सामन्तीय समाज में धार्मिक सम्प्रदायवाद का वर्चस्व रहा। तत्कालीन साम्राज्यवादी शासक अध्यात्मवाद के ज्ञान के द्वारा जनता को गुलाम वनाये रखना चाहते थे। अपने हित को ध्यान में रखकर परमतत्त्व की वातें करते थे। नैतिकता और धर्मान्धता को प्रश्रय देते थे। सामन्ती उत्पीड़न की तुलना में, साम्राज्यवादी शोषण कहीं अधिक भयानक और तीव्र था। इन सामन्तीय और औपनिवेशिक शासकों ने भय और अनुग्रह दोनों प्रकार की प्रवृत्तियाँ उस समय के लोगों में जागृत कीं। चूंकि शुक्लजी की युग-दृष्टि इन सभी परिवर्तनों को सूक्ष्मता से देख-परख रही थी, अनुभव कर रही थी। इसीलिए पुराने सामन्तवाद की रूढ़ियों और परम्पराओं को तोड़ने की वात करते हुए लिखते हैं—"शासक-वर्ग अपने अन्याय और अत्याचार के विरोध की शांति के लिए भी डराते और ललचाते आये हैं। मत-प्रवर्तक अपने द्वेष और संकुचित विचारों के प्रचार के लिए भी जनता को कँपाते और ललचाते आये हैं।"[2]

शुक्लजी का दृष्टिकोण परम्परावाद के प्रति रचनात्मक रहा है। ब्रिटिश उपनिवेशवाद के कारण जो आधुनिकता भारत में आयी, उससे प्राचीन रूढ़ियों और परम्पराओं से ग्रस्त समाज में नयी सभ्यता का विकास होना शुरू हुआ जिसका पुरातनपंथियों, धर्माचार्यों एवं कर्मकाण्डियों ने विरोध किया। वहीं शुक्लजी ने अपने निवंधों में यथा-अवसर पुरानी रूढ़ियों के विरुद्ध पैदा होने-वाली नई प्रवृत्ति को प्रोत्साहित किया है—"किसी शुभ परिणाम पर दृष्टि रखकर निन्दा, स्तुति, मान-अपमान आदि की कुछ परवाह न करके प्रचलित

---

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना : डॉ० रामविलास शर्मा, पृ० २३३।

२. चिन्तामणि : भाग १, भाव या मनोविकार, पृ० ४।

प्रथाओं का उल्लंघन करनेवाले वीर या उत्साही कहलाते हैं। यह देखकर वहुत से लोग केवल इस विरुद्ध के लोभ में ही अपनी उछल-कूद दिखाया करते हैं, केवल उत्साही या साहसी कहे जाने के लिए ही चली आती हुई प्रथाओं को तोड़ने की धूम मचाया करते हैं।" परन्तु ऐसे व्यक्ति जो शुभ-अशुभ पर ध्यान रखे बिना विध्वंसक प्रवृत्ति का परिचय देते हैं उनका उपर्युक्त पंक्तियों में ही विरोध किया है। इस प्रकार दोनों कोटियों के उत्साह का वर्णन करके शुक्लजी ने अपनी सुसंगत दृष्टि का परिचय दिया है।

आचार्य शुक्ल का युग सुधारवादी आन्दोलन का रहा है। १९वीं सदी में विधवा-विवाह को भी लेकर अनेक सुधारपरक आन्दोलनों का जन्म हुआ, पर उस आन्दोलन में गलत प्रवृत्तियाँ भी कार्य कर रही थीं जिसका संकेत शुक्ल जी ने किया है—"मैंने कई छिछोरों और लम्पटों को विधवाओं की दशा पर दया दिखाते हुए उनके पापाचार के लम्बे-चौड़े दास्तान हरदम सुनते-सुनाते पाया है।"[1]

भक्ति की अपेक्षा कर्मयोगी के उत्साह को शुक्लजी ने सच्चा उत्साह माना है। इस प्रकार इन्होंने कर्मयोग की प्रतिष्ठा की। उस पुनर्जागरण-काल में जब राष्ट्र की समस्या सम्मुख थी, जातीय मुक्ति की भावना कार्य कर रही थी, ऐसे समय में भक्ति की अपेक्षा जागरण की दृष्टि से कर्मयोगी के उत्साह का महत्त्व बढ़ जाता है। युगीन आवश्यकता के अनुरूप ही शुक्लजी में इस तरह की दृष्टि पैदा हुई—"कर्म-सौन्दर्य के सच्चे उपासक ही सच्चे उत्साही कहलाते हैं।"

शुक्लजी ने अपने युग और समाज के अनुरूप कर्म-सौन्दर्य से युक्त 'क्षात्र-धर्म' की प्रतिष्ठा भी की। यद्यपि क्षात्र-धर्म, सामन्त-धर्म का ही उदात्त रूप है पर नये समाज में जन्मे विचारों की उपयोगिता को वर्तमान काल से सम्बद्ध न कर सकने के कारण पुराने आदर्शों का ही आदर्शीकरण किया है, पर उसमें इस तरह के राजनीतिक संकेत हैं जो शुक्लजी की व्यापक राष्ट्रीय चेतना का आभास देते हैं, उपनिवेशवादी शोषण पर चोट करते दिखायी देते हैं। अतः प्रतिरोध और संघर्ष से जुड़ी हुई क्षात्र-धर्म की मूल्यवान् परम्परा के महत्त्व को नये संदर्भों में प्रतिपादित करते हुए लिखते हैं—"बड़े-बड़े राज्य माल की बिक्री के लिए लड़नेवाले सौदागर हो गये हैं। अब सदा एक-दूसरे देशों का चुपचाप दबे पाँव धन-हरण करने की ताक में रहता है। कोई-कोई देश तो लोभवश

---

१. चिन्तामणि, भाग १, उत्साह, पृ० ७

इतना माल तैयार करते हैं कि उसे किसी देश के गले मढ़ने की फिक्र में दिन-रात मरते हैं। जब तक यह व्यापारोन्माद दूर न होगा तब तक इस पृथ्वी पर सुख-शान्ति न होगी। दूर यह अवश्य होगा, पर जिस प्रकार और सब पागलपन दूर होते हैं, उसी प्रकार क्षात्र-धर्म की संसार में फिर प्रतिष्ठा होगी, चोरी का बदला डकैती से लिया जायगा।"[१]

इसी कारण अब सत्य और अहिंसा से काम चलनेवाला न था क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर इतनी विषमतायें थीं कि अपनी-अपनी पूंजी की बढ़ोत्तरी के लिए देश परस्पर युद्धरत होते थे, विश्व-युद्ध इसीका परिणाम था। इसी कारण शुक्लजी का यह कथन 'चोरी का बदला डकैती से लिया जायेगा' इन उपनिवेशवादी देशों के विरुद्ध प्रतिशोधात्मक भाव का परिचायक है।

औपनिवेशिक सत्ता के अधीन भारत में पनपते हुए पूंजीवाद के खतरे की ओर भी शुक्लजी ने बार-बार संकेत किया है। पूंजीवादी वर्ग व्यापारिक समझौते पर आधारित होता है। उनके यहाँ 'वणिग्धर्म' ही श्रेष्ठ धर्म होता है तो 'श्रद्धा ऐसे भाव क्यों न विकें।' श्रद्धा की भी विक्री हो सकती है जहाँ प्रत्येक कार्य स्वार्थ वश किया जाता है। शुक्लजी ने इस व्यापारवाद का निषेध किया है। पूंजीवादी जीवन के कारण व्यक्तिवाद का जन्म होता है, जिसके कारण व्यक्ति सामाजिक जीवन से दूर हो जाता है, अपनी स्वाभाविक वृत्तियों से परे हट जाता है। अनुभूति के नाम पर तरह-तरह की अराजकता, उच्छृङ्खलता और बचकाना विद्रोह का जन्म होता है। अतः पूंजीवाद अपने अन्तिम दौर में द्वेष-कलह और अमानवीय विकृतियों का ऐसा निर्मम रूप धारण कर लेता है जहाँ 'न उन्हें मक्खी चूसने से घृणा होती है और न रक्त चूसने में दया।'

शुक्लजी ने 'करुणा' नामक मनोभाव का भी सामाजिक जीवन में महत्त्व दर्शाते हुए पश्चिमी पूंजीवादी समाजशास्त्रियों की आलोचना की है, जो अपनी रक्षा के विचार से ही दूसरों की सहायता अपेक्षित समझता है। पर अपने हित की बलि देकर दूसरे का हित चाहना, यह भाव करुणा का मूलमन्त्र है—"दूसरों के दुःख के परिज्ञान से जो दुःख होता है, वह करुणा, दया आदि नामों से पुकारा जाता है।"[२]

पूंजीवादी सभ्यता के विकास से जीवन कृत्रिम और यांत्रिक हो जाता है,

---

१. चिन्तामणि, भाग ३, पृ० १८८

२. चिन्तामणि, भाग १, करुणा

बाहरी दिखावे की स्थिति पैदा हो जाती है। इसी विकृत पूंजीवाद के कारण ईर्ष्या-द्वेष को भी बढ़ावा मिलता है। शुक्लजी स्पष्टतः यह समझ जाते हैं कि औद्योगिक कृत्रिमता के कारण ही ईर्ष्या का जन्म हुआ है—'ईर्ष्या सामाजिक जीवन की कृत्रिमता से उत्पन्न विष है।' समाज में वर्गों का अस्तित्व में आना ही ईर्ष्या की प्रवृत्ति को जन्माता है। युग की प्रगतिशील दृष्टि के तहत ही शुक्ल-जी ऐसा देखते हैं।

साम्राज्यवादी अर्थतन्त्र की बुनियादी विशेषता है दुनिया को युद्ध-क्षेत्र में उतारना, दोनों विश्व-युद्ध इसीके परिणाम हैं। शुक्लजी के शब्दों में 'सबल और सबल देशों के बीच अर्थ-संघर्ष की, सबल और निर्बल दोनों देशों के बीच अर्थ-शोषण की प्रक्रिया अनवरत चल रही है।'[1] आज भी लोगों के भीतर इसी कारण भय समाया हुआ है। चूंकि अंग्रेजी सामाज्यवाद का विश्व के बहुत बड़े हिस्से में वर्चस्व रहा है, इसी कारण बुद्धिवादी विचारकों ने इसका विरोध किया है।

भय और क्रोध के सामाजिक महत्त्व का प्रतिपादन भी शुक्लजी ने किया है। गुलाम-जाति में विशेष रूप से अन्याय के प्रति विरोध की चेतना जनमती है और यह उचित भी है। इसी कारण क्रोध के दमन की जगह औचित्य को सिद्ध करते हुए कहते हैं—"किसी अनाथ अबला पर अत्याचार करने पर एक क्रूर पिशाच को हम उद्यत देखते हैं। समझाना-बुझाना या तो व्यर्थ है अथवा इसका समय ही नहीं है। ऐसी दशा में यदि उस अबला की रक्षा इष्ट है तो हमें चटपट उस कर्म में प्रवृत्त होना होगा। उस समय का हमारा क्रोध कितना सुन्दर और अक्रोध कितना गर्हित होगा। इसी प्रकार दासता एक प्रकार की कायरता को भी जन्म देती है। ऐसी स्थिति में जब वास्तविकता का बोध होता है तो व्यक्ति उससे मुक्ति लेना चाहता है। उसे जब नैतिक बोध का एहसास हो जाता है तो वह नैतिकतावादियों और विरागवादियों के कथनों से ऊपर उठकर कर्त्तव्यरत होता है। इसी कारण नैतिक दृष्टिकोण के तहत 'झूठ बोलना पाप है', परन्तु यदि कोई निरपराध और निःसहाय व्यक्ति झूठ बोलने से अनुचित दण्ड से बच जाता है तो वहाँ झूठ बोलना पाप नहीं है।" शुक्लजी ने लिखा भी है-'मनोवेग वर्जित सदाचार दम्भ या झूठी कवायद है।'

'लोभ' का वही रूप सच्चा है जो दूसरों के लिए हितकारी हो, जहाँ पर

---

१. चिन्तामणि, भाग १, पृ० १०३

अन्य का त्याग अनन्य के हित में किया जाता है। शुक्लजी ने क्रोध के अनुरूप ही घृणा को भी लोकहित के परिप्रेक्ष्य में उपयुक्त माना है। ब्रिटिश साम्राज्य-वादियों के प्रति घृणा की भावना भी तत्कालीन क्रांतिकारियों में विद्यमान थी, ऐसा युगानुरूप ही था। जहाँ दासता के आतंक के प्रति आक्रोश था वहीं अमानवीय कृत्यों के प्रति घृणा भी थी, इन्हीं परिस्थितियों के बीच घृणा की उपयोगिता पर आचार्य शुक्ल ने बल दिया।

कविता भी मनुष्य के हृदयस्थ भावों को साकार रूप प्रदान करती है। शुक्लजी ने कविता को कर्मयोग की भाँति भावयोग माना है। कविता से ही मनुष्य के भाव की रक्षा होती है और भावों का सम्बन्ध मनुष्य के कर्मों से है—"मनुष्य को कर्म में प्रवृत्त करनेवाली मूलवृत्ति भावात्मिका है। केवल तर्कबुद्धि या विवेचना के बल से हम किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होते।" यद्यपि मनुष्य विचारवान् प्राणी है, पर जीवन के लिए विचार ही सब कुछ नहीं है, यदि ऐसा होता तो व्यक्ति का काम केवल उपदेशों से चल जाता। कविता के इसी महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए शुक्लजी ने कहा है—"संसार के अनेक कृत्रिम व्यापारों में फँसे रहने से मनुष्य की मनुष्यता जाती रहने का डर रहता है। अतएव मानुषी प्रकृति को जागृत रखने के लिए मनुष्य ने कवितारूपी औषधि बनायी है। कविता यही प्रयत्न करती है कि प्रकृति से मनुष्य की दृष्टि फिरने न पाये।" इसी कारण कविता स्वार्थ-सम्बन्धों के संकुचित धरातल से ऊपर उठाकर लोकसामान्य भावभूमि पर ले जाती है जहाँ वह अपनी सत्ता—लोकसत्ता में विलीन कर देता है।

वस्तुतः काव्य की अनुभूतियाँ विज्ञान की अनुभूतियों की भाँति कोरी ज्ञानात्मक नहीं होतीं, वे रागात्मक होती हैं। यह रागात्मकता शुद्ध और सात्त्विक होती है। इस रागात्मकता में सुखद और दुःखद दोनों भाव सम्मिलित रहते हैं। तभी तो प्रेम, करुणा तथा क्रोध, भय, घृणा आदि उभय प्रकार के अनुभव काव्य का विषय बनते हैं।

आचार्य शुक्ल ने क्रोचे के व्यक्तिवाद का खण्डन करते हुए साधारणीकरण के सिद्धान्त की स्थापना की—"सच्चा कवि वही है जिसे लोकहृदय की पहचान हो, जो अनेक विशेषताओं और विचित्रताओं के बीच मनुष्य-जाति के सामान्य हृदय को देख सके। इसी लोकहृदय में हृदय के लीन होने की दशा का नाम

रस-दशा है।"[1] साहित्य यदि कुछ लोगों के आनन्द हेतु रचा जायगा तो वह सार्वभौमिक रूप न लेकर संकुचित हो जायेगा जैसा कि रीति-काव्यों में हुआ है। यही कारण है कि साहित्य में अभिव्यक्त अनुभूति जीवन और जगत् से दूर की चीज नहीं होती। तभी तो साहित्य जहाँ भाव-परिष्कार करता है मानवीय सम्बन्धों को दृढ़ और कमजोर भी बनाता है। "कविता के द्वारा मनोवेगों की उत्तेजना से मनुष्य में सौन्दर्य-बोध ही नहीं, बल्कि अन्याय-बोध भी जागृत होता है और इस प्रक्रिया में वह अपनी सीमा से बाहर निकलकर समस्त संसार में फैल जाता है और इस प्रकार उसका जीवन कई गुना अधिक हो जाता है।". इस प्रकार शुक्लजी ने कविता के संसार में मनोवेगों के महत्त्व को प्रतिष्ठापित किया।

अतः मनोवेगों के विश्लेषण में भारतीय रस-सिद्धान्त ही आधार है। ऐसे निबन्ध जिनमें विचार-प्रवाह के बीच हृदय के भावों की अच्छी झलक हो, हिन्दी में कम ही देखने को मिलते हैं। सभी निबन्ध विचारों की गहनता, सघनता और व्यापकता से सम्पन्न हैं। पाश्चात्य लेखक बेकन ने भी मनोविकारों का विवेचन किया है पर शुक्लजी के समान स्पष्टता और विवेचन का उसमें अभाव है।

अन्त में विभिन्न मनोविकारों की व्याख्या से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि आचार्य शुक्ल का युग जिसे हम भारतीय नव-जागरण का एक महत्त्वपूर्ण युग रेखांकित करते हैं, वह नव-जागरण जिस प्रकार के मानव-व्यक्तित्व का निर्माण कर रहा था और शुक्लजी द्वारा प्रस्तुत मानव-व्यक्तित्व की परिकल्पना दोनों में अन्तर्विरोध न होकर बहुत दूर तक एकरूपता दिखायी देती है।■

---

१. चिन्तामणि, भाग १, साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्य

भाषा : आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की सहज भाषा

—डॉ॰ राजमणि शर्मा

१.० भाषा : आवश्यकता और स्वरूप

भाषा विचार-विनिमय का वह असाधारण माध्यम है जो मानव-अनुभूतियों की गहनता की अभिव्यक्ति-सामर्थ्य रखता है। अर्थात् भाषा जहाँ व्यक्ति की अनुभूति से शब्दमय होती है वहीं वह उसी रूप में दूसरों को अनुभूति कराने की सामर्थ्य भी रखती है। अनुभूति की इस सामर्थ्य को ही 'सम्प्रेषणीयता' की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। भाव, विचार या विषय किसी भी रचना के वस्तु पक्ष हैं किन्तु उसकी अभिव्यक्ति, उसका साधारणीकरण भाषा द्वारा होता है। वस्तुतः रचनाकार की अनुभूतियों को उसी सतह पर उतनी ही गहराई से पाठक या श्रोता को अनुभूत कराने का कार्य भाषा करती है। विषय को विशेष कोण, विशेष अर्थ तथा विशेष भंगिमा देने के लिए भाषायी संरचना जिम्मेदार है। रचना के सौन्दर्य, गाम्भीर्य तथा प्रस्तुतीकरण की सफलता के आकलन हेतु उसकी भाषा का विवेचन आवश्यक होता है। तीव्रता से बदलते हुए साहित्यिक मूल्य एवं प्रतिमान भाषा से सर्वाधिक प्रभावित होते हैं। भाषा व्यक्तियों द्वारा प्रयुक्त ध्वनि-संकेतों का एक समूह है तथा ये संकेत परम्परा और वातावरण के संयोग से धीरे-धीरे सामाजिक परिप्रेक्ष्य में विकसित होते हैं; परन्तु भाषा केवल संकेतों अथवा प्रतीकों का समुदाय ही नहीं है अपितु आत्माभिव्यक्ति का भी पर्याय है। भाषा के लिए अभिधेय का विचार उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना कि शब्द के अर्थ का। यहाँ अर्थ से केवल अर्थ (अक्षरार्थ) का नहीं, वोध्य वस्तु (अभिधेय वस्तु) का अभिप्राय लिया जाता है। अर्थात् भाषा को इस अर्थमय जगत् का अभिव्यंजक समझना चाहिए। भाषा विचारों को व्यक्त करती है; पर विचारों से अधिक उसका सम्बन्ध वक्ता के भाव, इच्छा, प्रश्न, आज्ञा आदि तत्त्वों से रहता है। विचार को व्यापक अर्थ देने में इन सभी का समावेश हो सकता है। एक और महत्त्वपूर्ण बात है—भाषा का समाज सापेक्ष होना है। भाषा की उत्पत्ति कैसे भी हुई हो, भाषा के विकास के लिए आवश्यक है कि लोग एक-दूसरे के कार्यों, विचारों और भावों को प्रभावित करने के लिए व्यक्त ध्वनियों

का सप्रयोजन प्रयोग करते हों। भाषा सम्पूर्ण विश्व के कार्य-व्यापार की आधार-शिला है। यह जितनी सशक्त, सही और चेतन होगी उतनी शाश्वतता और सामाजिकता की वाहक होगी। इस प्रकार स्पष्ट है कि भाव तथा चिंतन की अभिव्यंजना का एकमात्र साधन है—भाषा।

भाषा के अभाव में साहित्य-रचना की कल्पना असंभाव्य है। रचनाकार अपनी अनुभूतियों एवं विचारों को भाषा के माध्यम से ही तो अपनी कृति के अन्तर्गत अभिव्यक्त करता है। भाषा के बल पर ही लेखक की वैचारिक निधि, चरित्रों की मनःस्थिति और उद्देश्य की महनीयता को अंकित किया जा सकता है। भाषागत सशक्तता, प्रभविष्णुता तथा संप्रेषणीयता के अभाव में रचना सदैव असफल रहती है। स्वयं द्विवेदीजी उन लोगों को महान् मानते हैं जो लोग साहित्य-सृष्टि करके भाषा के माध्यम से जनतारूपी जनार्दन की सेवा करना चाहते हैं। क्योंकि राष्ट्र के सांस्कृतिक स्तर को ऊँचा उठाने के लिए समृद्ध भाषा की आवश्यकता होती है।[1]

२.०७ द्विवेदीजी की भाषा

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी भाषा के कुशल शिल्पी एवं उत्कृष्ट शैलीकार हैं। उनका साहित्य भाषा-प्रयोग का खजाना है। द्विवेदीजी की भाषा-शैली उनके व्यक्तित्व का प्रतीक है। उसमें संस्कृत भाषा का पूर्ण वैभव, हिन्दी की सम्पूर्ण शक्ति और लोक-जीवन की सरस व्यंजना एक साथ समाविष्ट है। अनुसंधान-ग्रन्थों में वह तर्कपूर्ण, तथ्यमयी, संयमित और गम्भीर हो जाती है; निबन्धों में संस्कृत के पद-विन्यास, अंग्रेजी के उपयोगी शब्दों, लोक-जीवन के घरेलू प्रयोगों और कहीं-कहीं उर्दू के लहजों को आत्मसात् करके भाषा के रूप में सामने आती है और उपन्यासों में पात्र और परिस्थिति के अनुकूल मर्यादित हो जाती है।

द्विवेदीजी अपनी रचनाओं की सामग्री के लिए सृष्टि का हर कोना झांक आए हैं। जहाँ वे आवश्यकतानुसार वस्तु सापेक्ष भाषा का चयन करते हैं वहीं उनकी भाषा में उनकी अपनी चेतना भी मूर्तिमान् है। उनका सरल, सहज व्यक्तित्व, अल्हड़पन उनकी भाषा में उसी रूप में प्रकाशित हो उठा है। एक बात और! द्विवेदीजी पात्रों, भावों या विचारों के अनुकूल इतने आकस्मिक ढंग से भाषा परिवर्तित कर देते हैं कि पाठक चकित रह जाता है।

१. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, आलोक पर्व, पृ० १३५।

यह परिवर्तन भावों की सम्प्रेषणीयता में बाधक न बनकर साधक ही बनता हैं। तत्सम शब्दावली से बोझिल भाषा से ऊबा पाठक एकाएक सरस और सहज भाषा पाकर रचना में पुनः केन्द्रित हो जाता है। इस परिवर्तन से जहाँ सहजता बढ़ती है वहीं गूढ़ भावों को समझने में मदद भी मिलती है और आगे आनेवाले ऐसे क्लिष्ट मनोभावों को समझने का रस भी पाठक यहीं संयोजित कर लेता है। इस प्रकार द्विवेदीजी एक ऐसे रचनाकार हैं जिनमें भाषा-सर्जना के सभी गुण विद्यमान ही नहीं, अपितु वे सतर्क भी हैं।

३.० द्विवेदीजी की भाषा : विविध सोपान

भाषा-संरचना के महत्त्वपूर्ण पहलू हैं शब्द, वाक्य, अर्थ, अलंकार, बिम्ब, मिथ, लोकोक्तियाँ और मुहावरे। प्रतिभा-सम्पन्न रचनाकार इन सबकी सायास योजना नहीं करता; वे तो स्वाभाविक रूप से उसकी भाषा के अंग बनते चलते हैं। वस्तुतः भाषा का जीवन से अत्यन्त गहरा सम्बन्ध है। वह उसकी चेतना और बुद्धि-विलास की प्रतीक है। शब्द उसके जीवन के गहरे अनुभवों के रूप में उसके मानस में निबद्ध रहते हैं जब जिस अनुभूति की अभिव्यक्ति के लिए रचनाकार प्रस्तुत होता है वे स्वयं सामने आ खड़े होते हैं और रचनाकार अनजाने ही उनका प्रयोग कर जाता है। तात्पर्य यह कि अनुभूति स्वयमेव शब्दमय हो जाती है और शब्द स्वयं अनुभूतिमय। और यही तो रचनाकार की सफलता का रहस्य है। यदि अपनी अभिव्यक्ति के लिए उसे शब्दों की खोज करनी पड़े तो उसमें स्वाभाविकता और सहजता कहाँ। इसलिए जब हम द्विवेदीजी की भाषा के विविध पक्षों पर विचार करने जा रहे हैं तो वहाँ इसका तात्पर्य कदापि यह नहीं है कि द्विवेदीजी ने शब्दों को रटकर, वाक्य-योजना सीखकर तथा मुहावरों को स्मरण कर उपयुक्त स्थानों पर प्रयुक्त किया। वस्तुतः उनकी शब्द-योजना, अर्थ-योजना, वाक्य-विन्यास-पद्धति, आदि उनकी अपनी भाषा-सम्पदा तथा पद्धति के गवाह हैं। जिस तरह से भारतीय संस्कृति और इतिहास को उन्होंने अपने में आत्मसात् कर उसे एक नये रूप में व्याख्यायित किया, उसी प्रकार उस काल में प्रचलित विभिन्न भाषा-रूपों को भी उन्होंने आत्मसात् कर उसे एक नये रूप में प्रस्तुत कर अपने परवर्ती रचनाकारों के समक्ष भाषा का एक नया स्वरूप रखा, जिसमें किसी भाषा के शब्दों से परहेज नहीं, तथाकथित सभ्य समाज के लिए अछूत जन-सामान्य के शब्दों के प्रति कोई भेदभाव नहीं। यदि वे जन-सामान्य में व्यवहृत किसी शब्द में नई अर्थवत्ता पाते हैं तो उसे तत्सम शब्दों की भाँति ससम्मान अपनी भाषा में स्थान देते हैं।

सही बात तो यह है कि वाणी का यह डिक्टेटर विवशता के कारण तत्सम शब्दावली का प्रयोग करता है, विशेषकर 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में, अपितु उसका मन तो रमा है तत्युगीन भाषा से च्युत जन-सामान्य के शब्दों में। वे उसमें जिस अर्थ की खोज करते हैं, उसके पर्याय में दूसरे शब्द उन्हें खोजे नहीं मिलते।

३.१ शब्द-योजना

द्विवेदीजी प्राचीन इतिहास के आख्याता हैं, खासकर संस्कृत-परम्परा के। इसलिए कथ्य के प्रति विश्वसनीयता का भाव लाने या पाठक को उसी काल में पहुँचा देने हेतु संस्कृतनिष्ठ शब्दावली की ग्राह्यता रचनाकार की अनिवार्य नियति है। यही कारण है कि द्विवेदीजी ने प्रचलित एवं अप्रचलित दोनों प्रकार के तत्सम शब्दों का प्रयोग अपने उपन्यासों में किया है। यथा—मल्ल समाह्वय, रागोत्क्षिप्त, प्रत्यग्र-मनोहर, वंधुल, हर्म्य, भावानुप्रवेश, अज्ञ, अक्षोभ्य, विवर्ण, श्रेष्ठिचत्वर, असूर्यम्पश्या, पार्थिव, विग्रह, परिवर्तितव्य, क्षौम वस्त्र, सिक्थ चर्चित, लाक्षारस रंजित, कुन्त, हेला, विव्वोक, अशीतिपर, अलूक्ष, उच्चावच, सोपानदीर्घा, अर्चक, उच्छून, विक्षब्ध, क्वणन, कंकणवलय, वृन्तछेदित, प्ररोह कुंज, विचिकित्सा, पांडुर, अस्खलित, घूर्णाचक्र, वात्याचक्र, घन कुंचित, अन्तर्मदावस्था, अगत्या, आस्थान मण्डप, विनिपात, समवक, अन्धतिमिराच्छन्न, अनुभयनिष्ठा, गुणकर्ष, जनसम्मद, व्याक्षेप, राजश्यालक, आलिम्पन, उपलेपन, वर्षायनिका, अलंवुषा।

कहीं-कहीं पर पाठकों की सुविधा का ख्याल रखकर तथा भाषा की क्षिप्रता बनाए रखने हेतु उन्होंने अनेक कठिन शब्दों के अर्थ भी कोष्ठक में दे दिये हैं। यह उनकी रचनात्मक कमजोरी नहीं अपितु शैलीगत विशेषता है, जो केवल 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में ही विद्यमान है।

'चारु चन्द्रलेख', 'पुनर्नवा' तथा 'अनामदास का पोथा' में उनकी भाषा धीरे-धीरे प्राचीनता और शास्त्रीयता से मुक्त होती गयी है। 'अनामदास का पोथा' में स्वयं द्विवेदीजी ने लोगों के इस भ्रम को दूर करने का प्रयास किया है कि वे 'बाणभट्ट की आत्मकथा' जैसी कृतियों के माध्यम से संस्कृतनिष्ठ हिन्दी के समर्थक और हिन्दुस्तानी के विरोधी हैं—"भगवान् साक्षी है कि मैं न संस्कृतनिष्ठ हिन्दी का समर्थन कर रहा था न तथाकथित हिन्दुस्तानी का विरोध

ही, कर रहा था संस्कृत की समृद्धि की स्थापना, पर मेरा अकारण नाम घसीट लाया गया।"[१]

बोलचाली भाषा के सुन्दर अर्थोंवाले तद्भव एवं देशज शब्दों का पर्याप्त प्रयोग भी आचार्य द्विवेदीजी के साहित्य में उपलब्ध है। 'किवाड़, जबड़, भरती, उलीचना, खली, निउनिया, हथियाना, झीमना, कठकरेजी, सिखावन, निकम्मा, अचरज, साँड़नी, भरमाना, कंगना, भुक्खड़, वैरागी, भैया, होम, देई, भैंसा, सिंगार, मिट्टी, सिखावन, लहुरा, लहुरी, काँपना, बेटा, बेटी, लाज, जूझना, पेटी, माता-पिता, भाभी, लोप, बहू, बरतन, अखाड़ा, भरमाना, काजल आदि शब्द इसके उदाहरणस्वरूप हैं। संज्ञापद ही नहीं, सर्वनाम क्रियापद तथा विशेषणों के भी तद्भव रूपों का प्रयोग द्विवेदीजी ने किया है।

व्याह, बरेखी, जगर-मगर, मनटोप, सोंठा, गठरी, भिड़न्त, बहली, झोला, सासतर, टिप्पस, ऊत, भेड़िया-धसान, डुग्गी और दुधमुँही आदि जैसे देशज शब्दों का अत्यंत सार्थक प्रयोग द्विवेदीजी की कृतियों में देखा जा सकता है। इसके अतिरिक्त ताकना, तिजहरी, कोस, झोंटा, हूक, टाटी, फाटक, कोने, अंतरे, बहली, बराकी, छैछी, पोटली, गप्प, अमाझम, लंठ, दुलार, रगेद देना, बिदकना, जोड़ी, लौंडो, गँवार, पोथी, झपका, घिस्सा, फावड़ी, ढोंका, धुत, मरकहे, पिल्लों, पहलवान, भिड़न्त, खरभर, पोत लेना, सटसे, सासतर, रसातल, दीया, फिसफिसाकर, करनी, हाट, साव, अँचवाया, वनैत, लहक, बटोरना, कलछुल, टनमन, डुग्गी, घनघम्मर दोने, दाना, सौत, ढंक, अँगियाँ, छरकना, भहराना, तनिक, लहालोट, टिटकारी, बदा, बिछोह, बही, बित्ता, दमादम, एकलरा, जौभर, बलैया, ताता, धुप्प, कुटम्मस, चंट, घाव, नटखट, तीया, दूआ, नक्का, कट्टा, झाँय-झाँय, धप्प से, बटोही, हितू, ढीठ, गमछा, लिलार, उजान, कचोट, ठठरी, ठंढ़स, बमभोलानाथ, बलिहारी, ठिठोली, जुहार, दरेरा देना, गुहार आदि निपट देशज शब्द द्विवेदीजी की भाषा के धरोहर हैं।

संस्कृत शब्दावली के प्रयोग के साथ-साथ ग्राम्य शब्दों के प्रयोग द्वारा द्विवेदीजी ने यह स्पष्ट कर दिया है कि ये शब्द एक ऐसी अर्थवान् इकाई के रूप में हमारे जीवन में प्रचलित है जिनका स्थान दूसरे शब्द भी नहीं ले सकते। इस प्रकार संस्कृतनिष्ठ और ग्राम्य शब्दों के एक साथ प्रयोग द्वारा उन्होंने नई

---

१. हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली, भाग २, अनामदास का पोथा, भूमिका।

भाषा की सृष्टि की जिसका पर्याय आज तक सामने नहीं आ पाया। यथा— "इन निठल्लों की बात में समय नष्ट करना व्यर्थ है। जो नहीं कही थी वह बात उसकी कुटिल भृकुटियों और तनी हुई ललाटरेखाओं से चू पड़ी थी ठीक सीदी मौला के मस्तक पर। वह बात सीधी थी, परन्तु इतनी वेगवती कि सीदी के मस्तिष्क की गहराई में चुभ गयी थी–तुम दायित्वहीन भगोड़ ठूंठ लोग समाज का नाश कर रहे हो।"[1] 'चू पड़ी', 'चुभ गयी' और 'ठूंठ' का अर्थ-गांभीर्य और सशक्त प्रयोग द्रष्टव्य है।

अनेक ध्वन्यात्मक शब्दों के प्रयोग द्वारा भी वे अपनी कृतियों को प्रभावशाली बना गए। इन शब्दों के प्रयोग से पात्रों के कार्यव्यापार एवं मनःस्थिति की सटीक अभिव्यक्ति हुई है। यथा—बकबकाना, बड़बड़ाना, धप्प से बैठना, धड़कड़ाकर उठना, सुबक-सुबककर फफक-फफककर, घंटे की टनटन, गले की खरखराहट, जलती हुई लकड़ियों की चटचट और चटपटाहट आदि सभी शब्द नाद-सौंदर्य की सृष्टि करनेवाले हैं।

द्विवेदीजी ने हिन्दी भाषा के अतिरिक्त अन्य प्रचलित भाषाओं से भी शब्दों को अपनाकर अपने साहित्य को भाषा की दृष्टि से समृद्ध बनाया है। विदेशी शब्दों का प्रयोग उनकी दृष्टि में अनुचित नहीं है अपितु उन शब्दों को स्वजातीय बनाकर वे ग्राह्य मानते हैं। उनका स्पष्ट कथन है–"मैं अन्य भाषाओं से शब्द लेने का बिल्कुल विरोधी नहीं हूँ, परन्तु विदेशी शब्दों को हमारी उच्चारण-परम्परा और ध्वनि-परिवर्तन के सिद्धान्त के अनुकूल ही होकर आना चाहिए। किसी शब्द का परिनिष्ठित रूप वह है जो हमारे ध्वनि-संस्कार के सिद्धान्तों के अनुकूल है।"[2]

आचार्य द्विवेदी ने अपने साहित्य में बंगला, उर्दू, अंग्रेजी, अरबी, फारसी आदि भाषाओं के शब्दों को बिना किसी हिचकिचाहट के सहज रूप में ग्रहण किया है। हिन्दी के साथ प्रयुक्त इन विदेशी शब्दों के कारण ही भाषा की तत्समनिष्ठता, दुरूहता तथा अजनबीपन का परिहार हो गया है। शायद, फर्क, आदमी, शौक, फीकी, उलझन, ना समझ, ताजगी, मगर, बुरी, पसन्द, शुरू, सवाल, बासी, जरूर, ताजा, हालत, गलत, बदनामी, खलबली, बहाना, आवाज, सिर्फ, हलचल, साफ, होश, एकदम, शरारत, तरसना, जबाब, दुनिया, वसूल,

---

१. हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली, भाग १, चारु चन्द्रलेख, पृ० ५२०।
२. हजारीप्रसाद द्विवेदी, विचार और वितर्क, पृ० १९१।

खबरें, दुरुस्त, तलवा, उतावला, बेहोश, खरीदना, बेतुका, दीवार, बारीकियाँ, मामूली, गली, बुरा, जल्दी-जल्दी, हंगामा, खाना, मकान, म्यान, जादू, रास्ता, कसर, इशारा, इर्द-गिर्द, चुप्पी, दिमाग, दावा, खराब, याद, निगाह, जरा, लाशें, परेशान, धोखा, हैरानी, तलाशी, बचकानी, कोशिश, हिसाब, कम-से-कम, कसरत, इनकार, हुकुम, नाराज, चुहल, गुमसुम, कराहना, साल, शिकस्त, भिन्नत, मतलब, कद, फबती, मालूम, फैसला, बाद, साफ-साफ, औरस, गलियाँ, बेहोश, रोज, निगाह, बिलकुल, ज्यादा, चुगलखोर, शामिल, उमर, तुफान, कमर, इनकार, नाराज, कमजोरी, करेद, मात, हालत, मिहनत, गरीब, बहादुरी, दलाल, सहारा, खून, बारी, तैनात, फसल, तय, कुश्ती, खुद, लहू, नजदीक, बाजार, खुशहाल, हरकतों से बाज आना, जोर-जोर जार-जार, दम साधना, हुलिया, ताकत, बराबर, बेचैन, चीज, बकना, असर, बस्ती, तलवार, जगह, मुकदमा, कदर, गिरोह, हर गली, मजा चखाना, मसलकर, जोखिम, करार, नौबत, नुस्खे बेकार, कतारें, लगातार, बर्फ, शऊर, तराजू, नतीजा, परवाह, खुशा-मद, रईस, मुल्क, रिश्ता, ऊब, बदहवास, कारगर, मुसकान बरतना, आदि शब्दों का प्रयोग उपन्यास-साहित्य में देखने को मिलता है। ये शब्द कहीं पर भी अपरिचित नहीं, अपितु संदर्भ की अनुकूलता इन शब्दों की अक्षय निधि है।

शब्द की व्युत्पत्तिमूलक शैली व्युत्पत्ति-विज्ञान की देन है। जहाँ लेखक किसी विशेष शब्द का प्रयोग करके उसके उद्भव और विकास को प्राचीन भाषाओं की परम्परा के साथ प्रस्तुत करता है, वहाँ यह पद्धति शब्द की व्युत्पत्तिमूलक शैली मानी जाती है। आचार्य द्विवेदी प्राचीन साहित्य के आख्याता ही नहीं, उसे नवीन अर्थ प्रदान करनेवाले रचनाकार भी हैं। उनकी यह व्याख्यात्मक प्रवृत्ति अनेक नए शब्दों की खोज और उसे नवीन अर्थ से सम्पृक्त करने की ओर पूर्णतया मुखर है। वस्तुतः यह उनके जीवन और रचनाकार व्यक्तित्व का अनिवार्य अंग रही है। इसीलिए वे शब्दों की नई व्याख्याएँ प्रस्तुत करते जाते हैं जो पाठक को कथा से ही नहीं, अपितु नए बोध से भी परिचित कराती हैं। उदाहरणतः सीदी अर्थात् सिद्ध, बख्शी—बौद्धों के भिक्षु शब्द का मंगोल रूपान्तर, उइगुर—भारतीय गुरु का रूपान्तर, गधैया—गर्दभिल्ल-गर्दभिज्ज। लोरिक—त्वरिक, ओझाउल—उपाध्याय कुल, शालिसाल, साड़ (संस्कृत में सात), शालि-वाहन—सातवाहन, होत्र—घोट घोड़ा, उजुआ—संस्कृत शब्द ऋजुका प्राकृत रूप, निपुषिका का प्राकृत रूप निउनिया, संस्कृत कान्दविक—हिन्दी कान्दू, गन्धर्व—कन्नर्प, वीर—वी अर्थात् विष्ट या अन्न, "र" "रमण या प्राण" रेक्व रयि क्व।

कई स्थलों पर लेखक ने किसी विशेष शब्द का प्रयोग करने के बाद उसके अर्थ तथा वह किस प्रकार किसी भाषा में प्रयुक्त हुआ इसकी व्याख्या की है। यथा–सूत्रधार[1], बुल्ला, लहुरा[2], धीरोदात्त[3], पुनर्नवा[4] आदि।

३.२ वाक्य-विन्यास

द्विवेदीजी की भाषा की वाक्य-रचना में विषयानुकूल आकार देखने को मिलता है। वाक्य-विन्यास में साधारण, मिश्र, संयुक्त, सकारात्मक, नकारात्मक, प्रश्नवाचक, विस्मयादिबोधक, सम्बोधनात्मक, व्यंग्यात्मक, सरल एवं जटिल वाक्यों का समावेश दिखाई पड़ता है। दो-तीन शब्दों के छोटे-से-छोटे सरल वाक्यों से लेकर चार-पाँच पंक्तियों के दुरूह एवं जटिल वाक्यों की संरचना उपन्यासों में सर्वत्र दिखाई पड़ती है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में अधिकांश वाक्य लम्बे तथा दुरूह हो गए हैं। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' और 'चारु चन्द्रलेख' की अपेक्षा पुनर्नवा और अनामदास का पोथा की वाक्य-योजना अधिक सरल और जीवन्त है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में कादम्बरी की तरह भावोच्छ्वसित, उत्प्रेक्षा एवं रूपकप्रधान लम्बे-लम्बे वाक्यों की प्रधानता है और 'चारु चन्द्रलेख' में व्याख्यान तथा उपदेशों की भाषण-शैली की प्रधानता है। 'पुनर्नवा' में तो द्विवेदीजी की शैली में पूर्णतः परिवर्तन आ गया है। इसमें क्लिष्ट भाषा के स्थान पर सरल, संक्षिप्त, भावानुकूल वाक्यों की योजना है। 'अनामदास का पोथा' में संस्कृतनिष्ठ क्लिष्ट भाषा के प्रयोग की संभावना अधिक थी परन्तु उसकी अनावश्यक भरमार से द्विवेदीजी इस उपन्यास को भरसक बचा गए हैं। "बड़े-बड़े शास्त्रों के अध्ययन द्वारा जिन सुकुमार मतिक काव्यानुरागियों की बुद्धि की पीठ शास्त्रों के अप्रचलित और पारिभाषिक शब्दों के कोड़ों से छिल गयी है (गुलेरीजी के शब्दों में) उन्हें हमारी सलाह है कि वे आचार्य द्विवेदी के अन्तिम उपन्यास 'अनामदास का पोथा' की भाषा का मरहम लगाएँ।"

प्रकृति-चित्रण तथा भावोन्मेष के प्रसंगों में वाक्य लम्बे, भाषा तत्सम शब्दावलीयुक्त और अलंकृत हो गयी है। इस प्रकार वर्णनात्मक, भावात्मक

---

१. हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली, भाग २, अनामदास का पोथा, पृ० ४०३।
२. हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली, भाग २, पुनर्नवा, पृ० ६८।
३. वही, पृ० १९३।
४. वही, पृ० २३३।

एवं गवेषणात्मक स्थलों पर यद्यपि उन्होंने लम्बे वाक्यों की रचना की है, लेकिन उनमें विचार-शृंखला की सुसम्बद्धता, विषय की स्पष्टता, विश्लेषण की सूक्ष्मता बरावर बनी रही है।

यद्यपि 'चारु चन्द्रलेख', 'पुनर्नवा' तथा 'अनामदास का पोथा' के प्रकृति-वर्णन एवं दार्शनिक तथ्यों के उद्‌घाटन में लम्बे वाक्यों की रचना हुई है, फिर भी 'पुनर्नवा' तथा 'अनामदास का पोथा' की वाक्य-योजना सरल और स्पष्ट हैं। छोटे एवं सरल वाक्य प्रायः कार्य-व्यापार या घटना-व्यापार की क्षिप्रता को व्यक्त करने के लिए प्रयुक्त हुए हैं। आर्यक की मनःस्थिति में कार्य-व्यापार क्षिप्रता के प्रसंग की वाक्य की योजना दर्शनीय है—"नदियाँ मिली हैं, पार कर गया है, पर्वत मिले हैं, लाँघ गया है, जंगल आए हैं, रौंद गया है। कहाँ क्यों? लोग क्या सोचेंगे?"[१]

अन्तर्द्वन्द्व, चिन्ता एवं विचार-प्रवाह के अनुसार वाक्य-विन्यास अलग-अलग हैं। पात्रों की मनःस्थिति के चित्रण में प्रश्नवाचक, विस्मयसूचक, संबोधन-युक्त वाक्यों की संरचना हुई है।

द्विवेदीजी ने अपनी वाक्य-रचना में पूर्ण विराम (।), अर्द्धविराम (,) आश्चर्यबोधक (!) और प्रश्नवाचक चिह्नों (?) का प्रयोग बड़ी सार्थकता से किया है जिससे अर्थबोध में और सुगमता तथा स्पष्टता आ गयी है। फल-स्वरूप आपकी वाक्य-रचना हिन्दी लेखकों के सामने आदर्शवत् है।

३.३ मुहावरों एवं कहावतों का प्रयोग

मुहावरा एक शब्द समूह है जिसका प्रयोग काव्य के अन्तर्गत अधिक होता है। किन्तु लोकोक्ति एक सम्पूर्ण एवं स्वतन्त्र वाक्य है जिसका प्रयोग वाक्य-समूहों के अन्तर्गत किया जाता है। मुहावरों एवं लोकोक्तियों के प्रयोग से भाषा में प्रवहमयता, प्राञ्जलता एवं अभिव्यंजना-शक्ति में अभिवृद्धि होती है। साथ ही भाव तथा विचारों में चटपटापन आता है, एवं सौंदर्य की सन्निहिति भी होती है।

द्विवेदीजी की भाषा की कलात्मकता का कारण उसमें प्रयुक्त मुहावरे और लोकोक्तियाँ भी हैं। अपने गम्भीर-से-गम्भीरतम विचारों को वे लोकोक्तियों के माध्यम से सहज ढंग से प्रस्तुत कर देते हैं। भाषा की उक्तिवक्रता, लाक्षणिकता

---

१. हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली, भाग २, पृ० १०८।

और अर्थ-दीप्ति इन मुहावरों एवं कहावतों के चमत्कारिक प्रयोग से समृद्ध हुई है। ये मुहावरे एवं लोकोक्तियाँ पूर्व परम्परा से पोषित नहीं, अपितु जन-सामान्य के बीच प्रचलित और नए अर्थों से युक्त हैं। द्विवेदीजी द्वारा प्रयुक्त मुहावरे और लोकोक्तियाँ इतने अधिक हैं कि यहाँ सभी को प्रस्तुत कर पाना संभव नहीं, फिर भी वानगी के तौर पर उनकी भाषा को समृद्ध करनेवाले तथा नयी अर्थवत्ता से सम्पृक्त कतिपय मुहावरों एवं लोकोक्तियों को उदाहरणस्वरूप दिया जा रहा है।

नयन तारा, मुँह जोहना, काजल की कोठरी, आपबीती कहना, आकाश-कुसुम, मुँह ताकना, मीठी छुरी चलाना, उवल पड़ना, सूखी डाली में कोपलें फूटना, काँटे की तरह चुभना, फूट-फूटकर रोना, सिर चढ़ा रखना, बासी घाव हरा करना, पौवारह, आँखें फाड़कर देखना, आँख दिखाना, जितने मुँह उतनी वातें, वहत्तर घाट का पानी पीना, अटकलों के ववंडर उठना, नाक बजाना, खाँय-खाँय करना, सिर आँखों पर, ताँता वँध जाना, पथराई आँखों से ताकना, मन मसोसकर रह जाना, गाँठ वाँध लो, दिनदहाड़े लूटना, मन सिकुड़ जाना, हृदय मसोस उठना, काठ मारना, आँखें बिछ जाना, खेत रहना, जीभ काट लेना, विना मोल के विक जाना, खूँटा तुड़ाना, खाक छानना, बुद्धि पर ताला लगना, पते की बात करना, हँस-हँसकर दोहरा होना, पानी-पानी हो जाना, दाँत पीस लेना, हाथ धोना, मुँह फेर लेना, संसार नष्ट होना, सुनना और सिर धुनना, रमता राम वनना, खोए-खोए-से रहना, क्षण-क्षण मरना, गाँठ बाँध लेना, तिल-तिल जलना, मन की बात ताड़ लेना, बाट जोहना, गधा पचीसी करना, पछाड़ खाकर गिरना, छठी का दूध याद आना, आँखें कानों तक फैल जाना, डण्डों से खवर लेना, आश्चर्य से आँखें टँगी रहना, क्रोध के मारे चेहरा लाल होना, छाती दुगुनी होना, हारे हुए जुआरी की तरह होना, पैर भारी होना, देर होती है अंधेर नहीं, हरकतों से बाज न आना, तमतमा जाना, कान खड़े होना, मुँह काला होना, कलेजा धक् से रह जाना, जनम की अभागिन करम की छैंछी, सन्न रह जाना, मन पसीज जाना, कलेजे को बेध जाना, आँखें डवडवा जाना, गप्प हाँकना, आह भरना, छाती फटने को आना, छाती पर आरा चलना, मुर्दे ढोते फिरना, अन्याय से लोहा लेना, काँटा हृदय में धँसना, आँखों से लुत्ती निकलना, पास फटकना, टस से मस न होना, अच्छे भले को पागल बना देना, सूखे धान को पानी मिलना, अपना रास्ता नापना, डोरे डालना, बात खटाई में पड़ना, कड़ियाँ दुरुस्त होना, पलटा खाना, खोद-खोदकर पता

लगाना, पुजवाते फिरना, मुँह दिखाने योग्य न रहना, पाप का घड़ा पूरा होना, गले पड़ जाना, किसी पर उँगली उठाना, ढोल बजाकर स्वीकृति देना, चेहरा खिल जाना, दाम वसूल करना, हड्डी-पसली चूर करना, पत्ता कट जाना, बात सोहाना, जी भर जाना, संगति बैठना, हृदय हाय-हाय कर उठना, पारा चढ़ना, तीर छूट चुकना, चेहरे पर हवाइयाँ उठना, मन थहाना, अपनी बेड़ी में अपने-आप कस जाना, बाल बाँका न कर पाना, बाँध तोड़कर बहना, रक्त खौलना, प्राणों का टुकड़ा होना, विधाता का वाम होना, हृदय फाड़कर रखना, हाथ पर हाथ धरकर बैठ जाना, बाँध तोड़कर फट पड़ना, प्राणों को हथेली पर लेकर चलना, मन भारी होना, मन का उत्साह से लहकना, मन हल्का होना, थककर चूर होना, मन जला-जलाकर रहना, अपने-आपको खपा देना, अचम्भे में आना, नया जन्म होना, मिट्टी खोदना, अवसर खो देना, दादी की-सी बातें करना, उधेड़बुन में पड़ना, प्राण वारना, आँखें खुल जाना, बात बनाना आना, अभिमान का बीज बोना, बिजली मार जाना, रोम-रोम से आशीर्वाद बरसना, नकेल पकड़कर लाना, गुड़ गोबर कर देना, नखरे करना, संशय और अनिश्चय के हिंडोले में झूलना, भुर्ता बनाना, रोम-रोम कान बन जाना, तुनक जाना, छोटे मुँह बड़ी बात कहना, छाया भी न छू सकना, कसर रह जाना, करेजे पर आरी चलना, दुष्ट ग्रह का आवेश आना, जले को हरा कर देना, सब खेल खत्म हो जाना, सोलह आने आपबीती, ब्रह्म लीक की तरह वाणी मन से खिंच जाना, नाक का फोड़ा, पेट में दाढ़ी होना, मन डोल जाना, सनाका खा जाना, सिर से पैर तक बिजली कौंध जाना, सौ बात बड़े की एक छोटे की मानना, चेहरा फक पड़ना, हृदय चीर देना, आँखों पर पर्दा होना, करारी चोट मारना, उसाँसे भरना, नाम कमाना, ठगा-सा रह जाना, ब्रह्मास्त्र चलाना, मन पर से भारी बोझ हटाना, दुनिया में उजागर होना, लाखों में एक, हृदय फटकर टुकड़े-टुकड़े हो जाना, ललक उठना, एक म्यान में दो तलवार रहना, चौगुनी चमका देना, ताव खाना, पंख लगा देना, चेहरा सफेद होना, बालू की भीत, भहरा जाना, आँखों ही आँखों पी जाना, चस्का लगाकर किनारे हो जाना, नस-नस पहचानना, लज्जा के मारे निढाल हो जाना, खलबली मच जाना, तरह-तरह की बातें उड़ाना, गलियाँ लाशों से पटना, कुहराम मच जाना, खूंटा तुड़ाना इत्यादि ।

३.४ सूक्तियों का प्रयोग

1. द्विवेदीजी अपनी बात को सूक्ति रूप में प्रकट करने में अत्यधिक निपुण

हैं। जो विचार बड़े-बड़े कथनों में नहीं समा सके उसे उन्होंने अत्यन्त कुशलता के साथ सूक्ति रूप में कह दिया। उनकी सूक्तियाँ तात्त्विक, व्यावहारिक, प्रभावोत्पादक, चित्ताकर्षक और मर्मस्पर्शी हैं। ऐसे स्थलों पर उनका निबन्धकार रूप हावी हो गया है। यथा—

'स्नेह बड़ी दारुण वस्तु है, ममता बड़ी प्रचण्ड शक्ति है।'

'जो लक्ष्मी है, वह शोक भी है, जो फूल है वही मरणासन्न भी।'

'बुद्धिमान् की नीति मौन है।'

'पुरुष स्त्री को शक्ति समझकर ही पूर्ण हो सकता है, पर स्त्री स्त्री को शक्ति समझकर अधूरी रह जाती है।'

'तर्क से विद्वेष बढ़ता है, विद्वेष से हिंसा बढ़ती है।'

'तमसो मा ज्योतिर्गमय'

'बहुजन हिताय बहुजन सुखाय'

'नारी की सफलता पुरुष को बाँधने में है और सार्थकता उसको मुक्त करने में।'

'दुःख तो केवल मन का विकल्प ही है मनुष्य तो नीचे से ऊपर आता रहता है, परमानन्द प्राप्त होता है।'

'नारी-देह वह स्पर्शमणि है जो प्रत्येक ईंट पत्थर को सोना बना देती है।'

'चिन्ता में निमग्न मनुष्य अंधा होता है।'

'क्रीडाते लोकरचना सखा ते चिन्मयःशिवः।'

'पुरुष का सत्य और है नारी का और।'

'न सन्ति याथार्थ्यविदः पिनाकिनः।'

'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्।'

'वस्तुतः कल्मष ही मनुष्य का अपना सत्य है। उसे स्वीकार करके ही

'वह सार्थक हो सकता है। दबाने से वह मनुष्य को नष्ट कर देता है।'

'नासा मोरि नचाय दृग।'

'वयसु बरन, तनु एक।'

'राजनीति भुजंग से भी अधिक कुटिल है, असिधारा से भी अधिक दुर्गम है, विद्युत्-शिखा से भी अधिक चंचल है।'

'स्त्री के दुःख इतने गम्भीर होते हैं कि उसके शब्द उसका दशमांश भी नहीं बता सकते।'

'प्रवृत्तियों से डरना भी गलत है, उन्हें छिपाना भी ठीक नहीं और उनसे लज्जित होना भी बलिशता है।'

'धर्म की रक्षा अनुनय विनय से नहीं होती, शास्त्र-वाक्यों की संगति से नहीं होती, वह होती है अपने को मिटा देने से।'

'शास्त्र ज्ञान की जननी है।'

'मृत्यु का भय माया है।'

'साधारणतः जिन स्त्रियों को चंचल एवं कुलभ्रष्टा माना जाता है, उनमें एक दैवी शक्ति भी होती है, यह बात लोग भूल जाते हैं।'

'कुतर्क सद्विचारों की दावाग्नि है।'

'सत्य अविरोधी होता है।'

'मनहुँ कलानिधि झलमलात कालिन्दी की नीर।'

'मानहुं सुरसरिता विमल जल उछरत जुग मीन।'

'जलचादर के दीप ज्यौं झलमलाति तन जोति।'

'अब लौं नसानी, अब न नसैहों।'

'लोक-ताप से तप्त होना सबसे बड़ा तप है।'

'डर से तभी तक डरना चाहिए, जब तक डर सामने आकर खड़ा न हो जाय (तावद् भयस्य भेत्तव्यं यावद् भयमनागतम्)।'

'सन्तान-परम्परा को नष्ट न होने देना (प्रजातन्तु मा व्यवच्छेत्सीः)।'

इनमें से कुछ उद्धरण संस्कृत, प्राकृत तथा व्रजभाषा से भी लिए गए हैं। इन उक्तियों के माध्यम से एक तो गद्यात्मक, इतिवृत्तात्मकता के स्थान पर काव्यात्मक सरसता की सृष्टि हुई है, दूसरे, लेखक का उद्देश्य भाषा को सरस बनाकर पाठक को रसबोध कराना भी था।

३.५ अलंकार-विधान

भाषा के क्षेत्र में द्विवेदीजी ने प्रौढ़ता एवं गम्भीरता के साथ-साथ काव्या-

त्मक रुचि का भी परिचय दिया है। उत्प्रेक्षा, रूपक, अनुप्रास आदि अलंकारों से मंडित भाषा का प्रयोग उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति है। किन्तु द्विवेदीजी ने अलंकारों का सायास विधान नहीं किया अपितु वे सहज तथा स्वाभाविक रूप में अपने-आप आ गए हैं। फलस्वरूप उनके अलंकार-विधान भाषा को न तो बोझिल बनाते हैं और न ही अर्थ-अभिव्यक्ति में बाधक बनते हैं। यथा—"सामने जो स्फटिक स्वच्छ जलराशि लहरा रही है, वह कितनी पवित्र है, कितनी शीतल है, कितनी मनोहर है। अहा! यहाँ गगनतल ही जल रूप में मानो अवतरित हो गया है, तुषारगिरि ही द्रवीभूत होकर मानो वर्तमान है, चन्द्रातप ही मानो रस रूप में परिणत हो गया है, शिव का पवित्र स्मित ही मानों जलधारा बन गया है, पार्वती का अपांग वीक्षण ही मानो तरलित हो रहा है, त्रिभुवन की पुण्य राशि ही मानो पिघल गयी है... चारुता का यह आश्रय है, शुचिता का प्रवाह है, महिमा का स्रोत है।"[१]

उपर्युक्त उद्धरण में भट्टिनी के शारीरिक सौन्दर्य के साथ-साथ उसका चारित्र्य-वैशिष्ट्य भी प्रकट हो उठा है। चारु चन्द्रलेख से एक उदाहरण और द्रष्टव्य है—"परन्तु यह तपस्वी कौन है? ज्योति रेखाओं से ही इसका शरीर बना है। मानों अग्नि-शिखा से छानकर, सुवर्ण-शलाकाओं से बाँधकर, विद्युत्-शिखाओं को खरादकर और सूर्यकांत मणियों को गलाकर ही यह अपूर्व ज्योति मंडल तैयार किया गया है। अहा! यह अकारण दयालु तापस कौन है?"[२]

इस प्रकार की संरचनाओं में लेखक ने एक ही प्रभाव को तीव्र किया है। पूर्वकालिक क्रियाओं से निष्पन्न सभी अंशों में समान गुण धर्मवाले उपादानों का कथन किया जाता है, जिससे सब मिलाकर एक विशेष गुण की अभिव्यक्ति होती है। उपर्युक्त उदाहरण में 'अग्निशिखा', 'सुवर्ण-शलाका', 'विद्युत् शिखा', 'सूर्यकांतमणि' आदि पद दीप्ति को व्यक्त करते हैं।

नंगे पैर आचार्य देवरात के आश्रम में जाती हुई मंजुला के सौम्य शान्त रूप का वर्णन करने में भी द्विवेदीजी अपने अलंकार-प्रेम को प्रदर्शित करने में नहीं चूकते। "ऐसा जान पड़ता था कि शोभा ने ही वैराग्य धारण किया है, कान्ति ने ही व्रतोद्यापन किया है, चन्द्रमा की स्निग्ध ज्योत्स्ना ही धरती पर

---

१. हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली, भाग १, बाणभट्ट की आत्मकथा, पृ० १०१।

२. हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली, भाग १, चारु चन्द्रलेख, पृ० ३४९।

उतर आयी है, पद्मवन की चारुता ने ही धूल पर चलने का संकल्प किया है और रति ने ही उदास भाव ग्रहण करके धरती को धन्य किया है।"[१] चित्रमय यह वर्णन द्विवेदीजी की भाषा की चारुता का उदाहरण है।

विरोधाभास अलंकार का एक उदाहरण द्रष्टव्य है—"वे प्रयोग-कुशल भी हैं, क्योंकि एक बार गुप्त स्थानों की निधि दिखानेवाला कज्जल लगाकर आँख खो चुके हैं। वे चिकित्सक भी हैं, अपने आगे के लम्बे-ऊँचे दाँतों को समान बनाने के उद्योग में अन्य दाँतों को खो चुके हैं, पर वे ऊँचे दांत जहाँ के तहाँ हैं।"[२]

भ्रम अलंकार का प्रयोग देखें—"निराचल ध्यानमग्न भट्टिनी के सामने अंजलिबद्ध सुकुमार करतलों की अँगुलियाँ इतनी अभिराम दिख रही थीं कि भ्रम होता था कि शिखापर्यन्त प्रफुल्ल मालती से आच्छादित तरुण अशोक के कोमल किसलय झलक रहे हैं।"[३]

नारी-सौन्दर्य के चित्रण में द्विवेदीजी अलंकृत भाषा का अत्यधिक प्रयोग करते हैं। ऐसे स्थलों पर चारों उपन्यासों में उनकी भाषा की अलंकारयुक्त चमत्कारिकता देखने को मिलती है। नारी-सौंदर्य एवं मनःस्थितियों के चित्रण में वे बाणभट्ट तथा कालिदास के उपमानों का प्रयोग करने के साथ-साथ नयी उपमाओं की उद्भावना भी करते हैं। पुनर्नवा की मंजुला देवरात के आश्रम तक पहुँचकर शिव के समक्ष कुमारसम्भव की पार्वती की-सी द्विधा से ग्रस्त हो जाती है : "देवरात के आश्रम के बहिर्द्वार पर आकर वह ठिठक गयी, जैसे स्रोतस्विनी के सामने अचानक शिलाखण्ड आ गया हो। उसने चकित मृग-शावक की भाँति भीत नयनों से चारों ओर देखा, ऐसा लगा मानो वह किसी ऐसे स्थान पर आ गयी हो जहाँ उसके प्रवेश का अधिकार न हो।"[४] मंजुला की मनःस्थिति, उठते-गिरते भावों का इससे सटीक वर्णन और क्या हो सकता है।

'चारु चन्द्रलेख' में नाटी माता के रूप-चित्रण में उपन्यासकार द्वारा अलंकारों का नियोजन उसके सौंदर्य को अत्यन्त मनोहारी तो बनाता ही है साथ ही पवित्रता की एक सलिला भी वह निकलती है।

---

१. हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली, भाग २, पुनर्नवा, पृ० २७।
२. हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली, भाग १, बाणभट्ट की आत्मकथा, पृ० ४८।
३. वही, पृ० ४३।
४. हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली, भाग २, पुनर्नवा, पृ० २७।

द्विवेदीजी प्रायः अमूर्त उपमानों से मूर्त उपमानों की योजना करते हैं। देवरात के आश्रम की ओर जाती हुई साधारण वेश-धारिणी मंजुला का चित्र इस बात का प्रमाण है।[1] इसी प्रकार 'चारु चन्द्रलेख' में मैना के रूप-चित्रण में अमूर्त उपमानों की योजना की गयी है। पात्रों की मनोदशा का चित्रण करते समय भी द्विवेदीजी ने अमूर्त उपमानों की योजना की है।

उपर्युक्त, सटीक एवं अर्थगर्भित विशेषण भाषा की शक्ति और सौन्दर्य में वृद्धि कर देते हैं। अनेक स्थलों पर तो द्विवेदीजी ने विशेषणों की झड़ी लगा दी है। यथा—"तुमने ठीक देखा है वत्स! वह सुकुमारता की मूर्ति है, पवित्रता की उत्स है, शोभा की खान है, शुचिता की आश्रय-भूमि है, मूर्तिमती भक्ति है, कान्तिमती करुणा है।"[2]

पुनर्नवा में मंजुला के नृत्य के अवसर पर रूप-निरूपण, संन्यासिनी माता के रूप वर्णन, वटेश्वर तीर्थ तथा ध्यानरत मृणालमंजरी के संबंध में कही गयी उक्तियाँ इसी प्रकार की हैं।

३.६ बिम्ब विधान

दैनिक जीवन में हम अनेक वस्तुओं के सम्पर्क में आते हैं जिनकी संश्लिष्ट स्मृतियाँ हमारे मानस-पटल पर अंकित हो जाती हैं। जब हम उस स्मृति को शब्दों में बाँधने का प्रयास करते हैं तब बिम्ब का सर्जन होता है। बिम्ब एक प्रकार से मानसिक पुनर्सृजन है जो इन्द्रियों के शब्द, स्पर्श, रस, गंध के पूर्वानुभवों को शाब्दिक अभिव्यक्ति प्रदान करता है। इसे चित्र, रूप अथवा सम्मूर्तन आदि नामों से भी अभिहित किया जाता है।

रचनाकार अपनी रचना को अधिक प्रभावशाली बनाने हेतु अनेक प्रकार के बिम्बों की सृष्टि करता है। वस्तुतः बिम्ब जहाँ एक तरफ रचनाकार की कल्पना-शक्ति का प्रमाण है, वहीं दूसरी तरफ उसकी भाषा-सर्जन—सामर्थ्य का प्रतीक भी। गद्य हो या पद्य, बिम्बों का आयोजन रचनाकार के लिए अनिवार्य तत्त्व है। बिम्ब-विधान के बिना उसकी भाषा अधूरी लगती है, और उसका वस्तु-संगठन अपूर्ण। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी एक ऐसे रचनाकार हैं जो कल्पना के धरातल पर अन्य रचनाकारों से पूर्णतया अलग दिखाई देते हैं।

---

१. हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली, भाग २, पुनर्नवा, पृ० २७।
२. हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली, भाग १, बाणभट्ट की आत्मकथा, पृ० ५७।

चाहे उनके उपन्यास हों या निवन्ध, उनकी कल्पना-शक्ति का चमत्कार सर्वत्र देखने को मिल जाता है। भाषा के सम्वन्ध में तो कुछ कहना ही नहीं। ऐसी स्थिति में द्विवेदीजी अपनी रचना में कल्पना-प्रसूत मानसिक चित्रों के समायोजन से क्यों चूकते? उनके विम्ब कहीं तो पूर्णतया मानसिक दिखाई देते हैं और कहीं दृश्य जगत् की घटनाओं के प्रत्यक्ष होते चित्र। निपुणिका की नृत्य-स्थिति का चित्र प्रस्तुत करते हुए वे हमारे सामने नृत्य को ही प्रस्तुत कर देते हैं—"निपुणिका ठिठककर खड़ी हो गयी—उसका वायाँ हाथ शिथिल श्यामलता के समान झूल पड़ता था, उसकी कमनीय देह-लता नृत्य-भंग से जरा झुक गयी थी, मुख मण्डल श्रम-विन्दुओं से परिपूर्ण था। मुझे मालविकाग्निमित्र की मालविका याद आ गयी।"[१]

महावराह धरित्री के उद्धारकर्ता हैं। उनके चित्र को देखकर मानव-मन में विश्वास की भावना स्फूर्त होनी चाहिए। वे उल्लास के भी जनक हैं, उनका दृश्य हमें उल्लास और दीप्ति का भाव तभी दे सकता है, जव उनको देखने से यह भाव स्वयं हमारे मानस में प्रस्फुटित हो जाय। द्विवेदीजी द्वारा प्रस्तुत महावराह का चित्र जहाँ इन दो भावनाओं को हमारे अन्तस् में प्रस्फुटित करता है, वहीं उनका यह चित्र हमारे अन्तस् में स्थायित्व भी पा जाता है। यह रचनाकार की सबसे बड़ी सफलता है।

इसी प्रकार 'चारु चन्द्रलेख' में 'नागर नटी' की मूर्ति का जो रूप-चित्र द्विवेदीजी ने प्रस्तुत किया है, पाठक को मन्त्र-मुग्ध कर देता है। मूर्ति का प्रस्तुत वर्णन प्रत्येक भाव और रूप-छवि को निरूपित करता हुआ लेखक के कला-कौशल का पूर्ण परिचय देता है।

प्रकृति-चित्रण में तो द्विवेदीजी सम्यक् प्रकृति का मनोमुग्धकारी चित्र हमारी आँखों के सामने प्रस्तुत कर देते हैं। हिमालय की शोभा का वर्णन करते हुए द्विवेदीजी पाठक को वहाँ के मोहक एवं अभिराम दृश्यों का अवलोकन कराने में सफल हुए हैं। इन वर्णनों को पढ़ते हुए स्वाभाविक रूप से पाठक के मानस-पटल पर तदनुरूप छवि अंकित होती जाती है।

द्विवेदीजी ने पर्वत एवं नगर की शोभा से दूर वन्य-जीवन से भी पाठक का परिचय कराया है। वन्य जीवन का वर्णन करते हुए द्विवेदीजी बड़ी कुशलता से पाठक के मानस पर उस चित्र को अंकित कर उसे यथार्थ का वोध

---

१. हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली, भाग १, वाणभट्ट की आत्मकथा, पृ० २९।

कराते हुए नगर से दूर वन में भरमा देते हैं। पुनर्नवा में वर्णित सिद्ध बाबा के आश्रम का वर्णन द्रष्टव्य है।[1]

सौन्दर्य-चित्रों को प्रस्तुत करते हुए भी द्विवेदीजी ने अपूर्व कुशलता बरती है। उनके सौन्दर्य-चित्र पाठक को मुग्ध किए बिना नहीं रहते। पाठक की आँखों के सामने तुरन्त वैसी काल्पनिक रूपच्छवि प्रतिबिम्बित हो उठती है। जाबाला का रूप-वर्णन द्रष्टव्य है—"वह द्यु-लोक की दिव्य किरण के समान पवित्र है, उषा के समान कान्तिमती है, साक्षात् वाग्देवता के समान बुद्धिमती है।"[2]

३.७ प्रतीक

भाषिक संरचना को प्रभावित करनेवाले अवयवों में बिम्ब एवं प्रतीक को उपेक्षित नहीं किया जा सकता। बिम्ब एवं प्रतीक भाषा में 'मूल्य' बनने की स्थिति में हैं। इसका सबसे बड़ा कारण उनका विस्तार है।

उपन्यास आधुनिक जीवन का महाकाव्य है। या यह भी कहा जा सकता है कि आधुनिक जीवन को आज सशक्त और पूर्ण अभिव्यक्ति प्रदान करने का माध्यम उपन्यास ही है। साहित्य की एक महत्त्वपूर्ण विधा होने के नाते साहित्य की सभी विशेषताएँ इसमें होनी चाहिए। बिम्ब, प्रतीक, और मिथक साहित्य की अभिव्यक्ति के जीवन्त माध्यम हैं। वस्तुतः इन तीनों का समायोजन भाषा को इतना सशक्त बना देता है कि रचनाकार एक साथ कई कथ्यों को उद्भासित कर देता है। सीधी-सादी भाषा के माध्यम से वह एक दूसरी कथा कहता है और प्रतीक, बिम्ब एवं मिथक के माध्यम से वह कथा के एक-दूसरे महत्त्वपूर्ण पक्ष की ओर इंगित कर देता है। प्रतीक साहित्य की व्यापकता को सीमित करने का भी कार्य करता है। तात्पर्य यह कि कथाकार प्रतीक के माध्यम से लम्बी कथा को अत्यन्त संक्षिप्त ढंग से प्रस्तुत कर देता है। या यों कहा जा सकता है कि प्रतीक अभिव्यक्ति का वह माध्यम है जिसके द्वारा चेतना के धरातल पर अप्रत्यक्ष को अधिकाधिक रूप में प्रस्तुत किया जाता है।

हिन्दी साहित्य कोश में प्रतीक शब्द की व्याख्या निम्नलिखित शब्दों में की गयी है—'प्रतीक' शब्द का प्रयोग उस दृश्य (अथवा गोचर) वस्तु के

१. हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली, भाग २, पुनर्नवा, पृ० १८१।

२. हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली, भाग २, अनामदास का पोथा, पृ० ४१५।

लिए किया जाता है जो किसी अदृश्य अगोचर या अप्रस्तुत विषय का प्रतिविधान उसके साथ अपने साहचर्य के कारण करती हैं, अथवा कहा जा सकता है कि किसी अन्य स्तर की समान रूप-वस्तु द्वारा किसी अन्य स्तर के विषय का प्रतिनिधित्व करनेवाली वस्तु प्रतीक है।[1]

अंग्रेजी के 'सिम्बल' शब्द के पर्याय के रूप में भी हिन्दी में 'प्रतीक' शब्द को ग्रहण किया गया है। 'सिम्बल' ग्रीक भाषा का वह शब्द है जिसका अर्थ है एक साथ जोड़ना, तुलना करना। तुलना करने के लिए दो वस्तुओं के मध्य सादृश्य अवश्य होना चाहिए। अतः प्रतीक चिह्न व उसके द्वारा अभिव्यक्त की जानेवाली वस्तु में सादृश्य की योजना अवश्य रहती है। यही अर्थ गद्य-क्षेत्र के प्रतीक शब्द में भी निहित है।

वस्तुतः हमारे सामने उपस्थित वस्तु जब किसी अन्य वस्तु का स्मरण कराती है, जो अप्रस्तुत है, तो वह उसका प्रतीक कहलाता है। उदाहरणतः स्तूप बौद्ध धर्म का प्रतीक है। स्तूप को देखकर हमारे सम्मुख बौद्ध धर्म का विचार उसी क्षण आ जाता है। वास्तव में स्तूप स्वयं में कोई विशिष्ट अर्थ नहीं रखता, वह किसी अन्य अर्थ की ओर संकेत करता है। प्रतीक में अंकों की-सी निश्चिन्तता होती है। जैसे एक कहने से केवल एक संख्या का बोध होता है, दो अथवा पाँच का नहीं। वैसे ही एक प्रतीक भी अनिवार्य रूप से केवल उसी भाव अथवा विचार का प्रतिनिधित्व करता है जिसके लिए वह अलग से लाया जाता है।

प्रतीक दो प्रकार के होते हैं—लघु एवं प्रौढ़। लघु प्रतीक कृति के एक या दो दृश्यों, चरित्रों एवं उनके क्रिया-कलापों को स्पष्टता प्रदान करते हैं जब कि दीर्घ प्रतीक का प्रयोग औपन्यासिक कृति को उसकी सम्पूर्णता में अभिव्यक्ति प्रदान करने के लिए होता है। यह सम्पूर्ण कृति का मेरुदण्ड होता है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपने उपन्यासों में प्रतीकों का प्रयोग किया है। द्विवेदी जी के उपन्यासों के शीर्षक ही भावपरक हैं। चाहे बाणभट्ट की आत्मकथा हो या चारु चन्द्रलेख, पुनर्नवा हो या अनामदास का पोथा। बाणभट्ट की आत्मकथा यद्यपि व्यक्तिप्रधान शीर्षक है पर सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि बाणभट्ट व्यक्ति के रूप में नहीं, अपितु भाव के रूप में समस्त कृति पर छाया हुआ है। वह उस भाव का प्रतीक है जिसमें

---

१. हिन्दी साहित्य कोश, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, काशी, पृ० ४७१।

दलितों, निरीहों के प्रति करुणा का, परम्परा, रूढ़ियों एवं अन्याय के प्रति विद्रोह का भाव है। इसी भाव का वाहक होने के कारण वह समूचे उपन्यास का केन्द्र है। वस्तुतः वह व्यक्ति का नहीं, अपितु विश्वास-जगत् का प्रतीक है। चारु चन्द्रलेख, पुनर्नवा और अनामदास का पोथा भी अपने शीर्षक के रूप में प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं।

बाणभट्ट की आत्मकथा में महावराह प्रौढ़ प्रतीक के रूप में उभरा है। वह उद्धारकर्ता है। बाणभट्ट भी उद्धारकर्ता है। नारी-उद्धार के लिए पुरुष को सामने आना ही होगा। बाण पुरुष है वह धरती स्वरूपा भट्टिनी का उद्धार करता है। महावराह समूची कथा का केन्द्र है। उसीके माध्यम से समूचे उपन्यास की कथा परिचालित होती है। वह शुरू से अन्त तक समूची कथा को अपने में लपेटे रहता है।

इसके अतिरिक्त द्विवेदीजी ने चारों उपन्यासों में त्रिकोणात्मक प्रतीकों की सर्जना की है। ये त्रिकोणात्मक प्रतीक हैं—ज्ञान, इच्छा एवं क्रिया-शक्ति। ज्ञान और इच्छा-शक्ति को क्रियात्मक स्वरूप प्रदान करती है क्रिया-शक्ति। ज्ञान-शक्ति-इच्छा शक्ति के सम्मिलन के बिना अपूर्ण है। क्रिया-शक्ति ज्ञान-शक्ति और इच्छा-शक्ति की दूरी समाप्त कर उनके भटकाव को दूर कर एक में मिलाती है। बाणभट्ट की आत्मकथा में भट्ट ज्ञान-शक्ति का प्रतीक है, भट्टिनी इच्छा-शक्ति और निपुणिका क्रिया-शक्ति की। निपुणिका के सहयोग से ही भट्ट भट्टिनी के उद्धार के लिए क्रियाशील होता है। अन्ततः दोनों को निकट कर क्रिया-शक्ति निपुणिका रंगमंच से हट जाती है। चारु चन्द्र-लेख में ज्ञान-शक्ति का प्रतीक राजा है, इच्छा-शक्ति रानी और क्रिया-शक्ति की प्रतीक-स्वरूपा है मैना। ज्ञान-शक्ति स्वरूपा राजा इच्छा और क्रिया-शक्ति के अभाव में निष्क्रिय है। रानी को प्राप्त करने के बाद ज्योतिषियों की भविष्यवाणी केवल रानी के संबंध में ही नहीं, अपितु राजा की भावी इच्छा को भी व्यक्त करती है। यही नहीं, ज्ञान और इच्छा में बढ़ती दूरी को घटाती ही नहीं, अपितु पुनः मिलन भी कराती है—क्रिया-शक्ति स्वरूपा मैना। उपन्यास की समूची कथा इन तीनों के संघर्ष और सम्मिलन की कथा है। अन्ततः मैना भी पर्दे के पीछे हो जाती है।

ठीक यही स्थिति पुनर्नवा की है। गोपल आर्यक ज्ञान का प्रतीक है। मृणाल इच्छा-शक्ति है और क्रिया-शक्ति है—चन्द्रा। इस उपन्यास में द्विवेदी

जी ने एक विशेषता दिखाई है। क्रिया-शक्ति स्वरूपा चंद्रा को गोपाल-आर्यक ग्रहण करता है; उसे अलग नहीं होने देता और इसके लिए इच्छा-शक्ति स्वरूपा मृणाल ही प्रेरित करती है। ऐसा प्रतीत होता है कि गोपाल आर्यक का लक्ष्य अभी पूरा नहीं हुआ था। 'अनामदास का पोथा' एक विपरीत दिशा का उपन्यास है। पर ये त्रिकोणात्मक प्रतीक उसमें भी हैं। रैक्व ज्ञान का प्रतीक है जो इच्छा-शक्ति के अभाव में अपूर्ण है। वह तभी पूर्ण होता है जब उसे जबाला मिल जाती है। गाड़ी क्रिया-शक्ति का प्रतीक है। रैक्व गाड़ी के माध्यम से ही इच्छा-शक्ति को प्राप्त करता है। इसके साथ ही द्विवेदीजी ने इस उपन्यास में एक और प्रौढ़ प्रतीक की सर्जना की है रैक्व के पीठ की सनसनाहट। द्विवेदीजी इसे अभिलाष भाव की संज्ञा देते हैं। यह अभिलाष भाव रह-रहकर रैक्व को शुभा का स्मरण कराता है। शुभा ही, नहीं अपितु एक ऐसे भाव का स्मरण कराता है जिसे रैक्व भी नहीं समझ पाता। किन्तु इतना जानता है कि यह शुभा के प्रति अभिलाष भाव ही है। वस्तुतः यह अतृप्त काम वासना है जो उसे रह-रहकर सालती है और शुभा की याद दिलाती है। साथ ही शुभा को प्राप्त करने के लिए यह सनसनाहट उसे प्रेरित भी करती है। यह एक प्रौढ़ प्रतीक है। इसीके माध्यम से द्विवेदी जी समूचे उपन्यास को कथा कह जाते हैं

३.८ मिथक

डॉ० रमेश कुन्तल मेघ ने मिथक के विषय में अपने विचार प्रकट करते हुए लिखा है—"मिथक मनुष्य का आदिम काव्य है।"[१]

"मिथों के निर्माण में सामूहिक चेतना काम करती है। मनुष्य के संस्कार में विद्यमान ये मिथक आस्था एवं श्रद्धा के आधार-स्तम्भों पर खड़े रहते हैं, तर्क के प्रवेश मात्र से वे भरभराकर गिर पड़ते हैं। 'मिथक' की यथार्थता ऐतिहासिक न होकर पुनीत होती है। मिथक की यह पुनीत यथार्थता उसे तर्कपूर्ण चिन्तन में अनुस्यूत करती है। इसलिए मिथक अन्तर्भूमि चिन्तन न होकर अनुभूति है।"[२]

मिथ का अर्थ है—पौराणिक आख्यान। आदिम युग के मानव ने प्रकृति

---

१. मिथक और स्वप्न, कामायनी की मन-सौन्दर्य सामाजिक भूमिका, पृ० २०६।

२. मिथक और स्वप्न, कामायनी की मन-सौन्दर्य सामाजिक भूमिका, पृ० २०६।

के गहन रहस्यों को अपनी बुद्धि के परे पाया तो उसने कुछ कथाओं को जन्म दिया जो उसकी शंकाओं का समाधान करती थीं। विश्व क्या है? इसका निर्माण कैसे हुआ? सूर्य, चन्द्र, दिवा, रात्रि, आँधी, तूफान आदि उसके लिए रहस्य से परिपूर्ण थे। सत्य क्या है? इसको खोजने की अपेक्षा उसने कुछ कल्पित कथाओं से ही सन्तोष कर लिया। धीरे-धीरे ये कथाएँ जाति व समाज द्वारा स्वीकृत कर ली गयीं और पौराणिक आख्यान कहलाईं। इन्हीं आख्यानों को 'मिथ' नाम दिया गया है। ऐतिहासिक दृष्टि से 'मिथ' शब्द धार्मिक अनुष्ठानों से उत्पन्न हुआ है। इन अनुष्ठानों का प्रतिपादन इष्ट के सम्पादन अथवा अनिष्ट के निवारण के लिए किया जाता है।

द्विवेदीजी के 'बाणभट्ट की आत्मकथा' उपन्यास में मिथक की सर्जना मिलती है। यहाँ यह मिथ पूर्णतया स्पष्ट है। महावराह की कथा ही मिथ है। महावराह मानव-मन में विश्वास-जगत् का प्रतीक है। मनुष्य को यह विश्वास है कि धरित्री का उद्धारक महावराह ही उसका उद्धार कर सकता है। महावराह के उद्धारक स्वरूप को द्विवेदीजी ने इस उपन्यास में क्षण-क्षण उद्घाटित किया है। उनकी भट्टिनी को विश्वास केवल महावराह में है। महावराह दूसरों के रक्षक हैं, दूसरे उनकी रक्षा नहीं कर सकते। इसीलिए तो द्विवेदीजी ने भट्ट के अन्तर्मन की बात योगी से कहलवा दी है। वस्तुतः बाण को भी महावराह को प्रतिमूर्ति के रूप में ही द्विवेदीजी ने प्रस्तुत किया है।

'अनामदास का पोथा' में हंस की कथा आती है। इसको प्रतीक भी माना जा सकता है। परन्तु मिथ के रूप में तो सम्पूर्ण उपन्यास की केन्द्र है यह कथा। और यदि इसको प्रतीक के अर्थ में लेते हैं तो उसका महत्त्व सिर्फ एक खास अंश तक ही सीमित रह जाता है।

रैक्व के प्रति चतुर्दिक् प्रचार करनेवाला हंस ही है। 'हंस' को आज तक किसीने देखा नहीं है, वह मानव के मानस-लोक की कल्पना का पक्षी है। यद्यपि द्विवेदीजी उसके नीर क्षीर विवेक पर शंका करते हैं पर यह उनकी व्यंग्यात्मक शैली और पाठक को दूसरी ओर उन्मुख कर देने की पद्धति का प्रतिफलन है। सही बात तो यह है कि पुराणों से प्राप्त हंस की कथा कहने की पद्धति को द्विवेदीजी ने इस उपन्यास का मेरुदण्ड बनाया है। रैक्व की प्रतिभा और उसकी ख्याति सुनकर ही लोग उसके पास आते हैं। यही तो समूची कथा का सार है।

पौराणिक आख्यान को उपन्यास की कथा के लिए चुनकर द्विवेदीजी मिथ

के प्रयोग से कैसे बच निकलते। अतः आवश्यकतानुसार द्विवेदीजी ने मिथों का प्रयोग कर अपने उपन्यास को जीवन्त और सशक्त बनाया है।

४.१ हास्य व्यंग्यप्रधान भाषा

हास्य की प्रवृत्ति द्विवेदीजी के व्यक्तित्व का एक अभिन्न अंग है। उनकी यह प्रवृत्ति विद्वानों की सभा से लेकर बालकों की संगति तक व्याप्त है। उनके चुभते व्यंग्य, निश्छल अट्टहास आज भी मुझ जैसे अकिंचन के अंतर्मन की संचित अमूल्य निधि हैं।

द्विवेदीजी को हास्य में एक रस मिलता था। अतः सरसता की खोज उनकी आँखें सदैव करती रहीं। साहित्य-सर्जना के साथ-साथ जीवन-यापन करते हुए भी उन्होंने उल्लास, सरसता एवं भावुकता को अपने से अलग नहीं किया। हास्य की आवश्यकता को बताते हुए द्विवेदीजी ने एक निबन्ध में लिखा है कि—"एक फिलासफर ने कहा है कि विनोद का प्रभाव कुछ रासायनिक-सा होता है। आप दुर्दान्त डाकू के दिल में विनोदप्रियता भर दीजिए। वह लोकतन्त्र का लीडर बन जाएगा। आप समाज-सुधार के उत्साही कार्यकर्ता के हृदय में किसी प्रकार विनोद का इंजेक्शन दे दीजिए, वह अखबारनवीस हो जाएगा।"[१]

हास्य एवं विनोद के साथ-साथ व्यंग्य बाण चलाने में भी द्विवेदीजी अत्यन्त निपुण रहे हैं। व्यंग्य के माध्यम से समाज के कटु यथार्थों का उद्घाटन द्विवेदीजी के साहित्य की विशिष्टता है।

द्विवेदीजी की रसिक वृत्ति, ललित भाव-भावनाओं को सदैव सम्मान देती रही है। उनकी इस प्रवृत्ति की झलक उनके उपन्यासों में देखी जा सकती है—देवर-भाभी के मध्य का परिहास का उदाहरण देखें—"तो देवरजी, उज्जयिनी में तुम्हारी भाभियों की सेना तैयार हो गयी है। एक तो मेरी नटखट बहन वसन्त सेना है। अकेली ही एक सेना है। दूसरी अभी वधूवेश में है ही—तुम्हारे भैया श्यामरूप की नयी बहू मदनिका, चलो वसन्तसेना का निमन्त्रण बहुत मुखर है—कहती है, दीदी सुना है, तुम्हारे पास एक गँवार देवर आया है, जल्दी उसे भेज दो। मेरे यहाँ बन्दरों का नाच होनेवाला है। एक कम पड़ रहा है।"[२]

राजदरबार में हाँ में हाँ मिलानेवालों के प्रति माढ़व्य के द्वारा किया

---

१. अशोक के फूल, पृ० ५२।

२. हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली, भाग २, पुनर्नवा, पृ० २८३।

गया व्यंग्य द्रष्टव्य है—"वहाँ जुगाली करनेवाले ही भरे पड़े हैं। माढ़व्य अगर मूर्ख हैं तो राजसभावाले बैल हैं।"[1]

चाटुकारिता करने वालों पर द्विवेदीजी ने अपनी भाषा के द्वारा तीखा प्रहार किया है।

'अनामदास का पोथा' की 'अंगदकूद' उनके हास्य और व्यंग्य का नमूना तो है ही, साथ ही रचनाधर्मिता की तीसरी आँख भी जो द्विवेदीजी की भाषा को दिशा-दृष्टि देती है।

४.२ भावानुकूल भाषा

किसी भी भाषा के लिए उसमें भावानुकूलता, गुणों की परिपूर्णता, अलंकारों की योजना और प्रवहमयता का होना आवश्यक है। द्विवेदीजी की भाषा हृदय के तीव्र भावों और विचारों को अभिव्यक्त करने में पूर्णतः समर्थ है। वह भावों एवं विचारों के अनुसार परिवर्तित हो पाठक को स्थिति का रसास्वादन कराने में पूर्णतया समर्थ है। गंभीर स्थलों पर भी भाषा की सशक्तता तथा क्षिप्रता देखते ही बनती है। यथा—"मैंने फिर पूछा, 'निउनिया,' तू क्यों चली आई, अब तक कहाँ रही, अब क्या करती है ? मैं तुझे दुखी देख रहा हूँ। तुझे इस अवस्था में छोड़कर मैं यहाँ से टल नहीं सकता। बता, किस बात पर तू भाग आयी थी ? आज निरन्तर छः वर्षों से मेरा चित्त मुझे धिक्कार रहा है, मुझे ऐसा लगता है कि मैं ही तेरे समस्त दुःखों का मूल हूँ। एक बार तू अपने मुख से कह दे कि यह बात गलत है। मैं क्या निर्दोष हूँ ?"[2]

कई स्थलों पर भाषा क्लिष्ट होते हुए भी अर्थाभिव्यक्ति में पूर्णतः सफल है। अवरोध-विहीन वह अपनी गति के अनुरूप निरंतर प्रवाहित होती रही है। प्राकृतिक वर्णनों में कहीं-कहीं पर भाषा क्लिष्ट अवश्य हो गयी है। परन्तु फिर भी उसमें काव्यात्मकता का पुट देखने को मिलता है।[3]

द्विवेदीजी की भाषा सम्पूर्ण विशेषताओं को अपने में समेट हुए उनकी कृतियों में प्रवाहित हुई है। सर्वत्र भाषा की कसावट, लाक्षणिकता, चमत्कारिता पाठक को कृति का पूर्ण रसास्वादन कराने में समर्थ है। उनकी भाषा केवल प्राचीन

---

१. हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली, भाग २, पुनर्नवा, पृ० १००।

२. हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली, भाग १, बाणभट्ट की आत्मकथा, पृ० ३१।

१. हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली, भाग २, पुनर्नवा, पृ० १०१।

भारतीय साहित्य के सारे उपयोगी तत्त्वों को आत्मसात् ही नहीं करती, अपितु उसके परवर्ती साहित्य की जीवन्तता को भी अपने में धारण करती है। उसमें अधुनातम काव्य-रचना के सशक्त उपादान भी सिमट-कर आ गए हैं। यह भाषा एक रील की भाँति है जिसमें पुराकालीन, मध्यकालीन और अर्वाचीन सभी कालों के काव्य भाषिक वैशिष्टच परिलक्षित होते हैं।

द्विवेदीजी की भाषा किसी युगविशेष के ढाँचे में नहीं बँधी है। भाषा का स्वरूप प्रत्येक रचना में प्रायः बदला हुआ मिलता है। भावानुकूल भाषा परिवर्तित होती रही है। वे अपने उपन्यासों में जिस सामाजिक परिवेश को प्रस्तुत करते हैं, उसीके अनुरूप उसमें भाषा की सृष्टि भी करते हैं।

आचार्य शुक्ल द्वारा उपेक्षित कबीर जैसे कवि को द्विवेदीजी ने हिन्दी-साहित्य में प्रतिष्ठित ही नहीं किया, अपितु उनकी भाषा और शिल्प की असाधारणता को उजागर किया। रचनाकारों को उनके शिल्प और भाषा की ओर उन्मुख किया, समीक्षकों को पुनर्विचार के लिए विवश किया और स्वयं द्विवेदीजी ने कबीर की फक्कड़ाना मस्ती को अपने जीवन में उतारा। उन्होंने कबीर को लोकनायक सिद्ध करते हुए कहा—"भाषा पर कबीर का जबरदस्त अधिकार था। वे वाणी के डिक्टेटर थे। जिस बात को उन्होंने जिस रूप में प्रकट करना चाहा है उसे उसी रूप में भाषा से कहलवा दिया है—'बन गया है तो सीधे-सादे, नहीं तो दरेरा देकर।' भाषा कुछ कबीर के सामने लाचार-सी नजर आती है, इसमें मानो ऐसी हिम्मत ही नहीं कि इस लापरवाह फक्कड़ की किसी फरमाइश को नाहीं कर सके।' ' ' 'और अकह कहानी का रूप देकर मनोग्राही बना देने की जैसी ताकत कबीर की भाषा में है वैसी बहुत कम लेखकों में पायी जाती है।"[1]

कबीर पर की गयी द्विवेदीजी की यह टिप्पणी द्विवेदीजी की भाषा पर खरी उतरती है। वे कबीर की भाषा पर झूम उठे। वे सचमुच भाषा के डिक्टेटर थे और उन्होंने जिस रूप में चाहा है उसे मोड़ देकर अपनी अभिव्यक्ति को स्पष्टता प्रदान की। भाषा जैसे उनके हाथ की कठपुतली है जो उनके इशारे पर नाचती है और उनका इशारा पाकर वह कठिन-से-कठिन कार्य भी सहज बना डालती है। अपनी साहित्यिक भंगिमा में द्विवेदीजी के उपन्यासों की भाषा कहीं अलंकारों से लदी चलती है तो कहीं अवसर आने पर अपनी सरलता का भी बोध करा देती है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में वह बाणभट्ट कृत कादम्बरी की शैली की याद दिलाती है।

---

१. कबीर, हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० २१६।

ऐतिहासिक उपन्यास में आचार-विचार, रहन-सहन की तरह ऐतिहासिक वातावरण की सृष्टि करने में भाषा का महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। उस काल-विशेष जैसी भाषा की प्रतीति करा पाने में ही उपन्यासकार की भी सफलता निहित होती है। द्विवेदीजी के उपन्यास इस दृष्टि से सफल रहे हैं। वस्तुतः हिन्दी उपन्यासों के सामान्य धरातल से बहुत ऊपर उठकर चलती दिखाई देने-वाली उनकी भाषा के मूल में उनके असाधारण कोटि के पात्रों और असाधारण परिवेश का योगदान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कारक बन गए हैं।

५.० भाषा को नयी देन—व्यक्तित्व की छाप

सर्जनात्मक दृष्टि के अभाव में रचना की सृष्टि भाषा के लिए एक दुष्कर कार्य है। सर्जनात्मकता द्वारा ही भाषा में लचक और नवीनता आती है तथा इसके द्वारा लेखक अपने कथन को सामान्य से अलग करके विशिष्ट शैली में प्रस्तुत करता है। किसी भी रचनाकार के कृतित्व में उसके व्यक्तित्व की छाप अवश्य निहित होती है। यही कारण है कि एक समान विधा की दो सर्जनात्मक कृतियों में रचनात्मक वैशिष्ट्य पाया जाता है।

द्विवेदीजी का व्यक्तित्व बुद्धि और हृदय के समन्वय से पूर्ण है। उनके व्यक्तित्व की यही महान् प्रवृत्ति उनके कृतित्व में भी प्रतिबिम्बित हुई है। वे सहज भाषा के पक्षपाती थे। सहज भाषा लिखने के लिए साधक या लेखक का सहज होना आवश्यक है। 'सहज भाषा का प्रश्न' नामक निबन्ध में वे लिखते हैं—"भाषा सहज होनी चाहिए, साहित्य सहज होना चाहिए। पर सबके मूल में और सबसे बड़ी बात यह है कि भाषा और साहित्य के साधक को सहज होना चाहिए। × × सहज हुए बिना परम प्रासव्य प्राप्त नहीं हो सकता। यह परम दुर्लभ सहजत्व प्राप्त करने के लिए आदिम मनोवृत्तियों से ऊपर उठना पड़ेगा, कर्म और ज्ञान की इन्द्रियों को सन्तुष्ट करनेवाले मनो-रागों को वश में करना होगा और फिर अपने-आपसे रास्ता पूछ लेना होगा। बाहर से आकर कोई रास्ता क्या बताएगा। संयत और तपोनिष्ठ आत्मा ही कार्याकार्य के निर्णय में प्रमाण है क्योंकि वह राग और द्वेष से ऊपर होता है।"[१] 'मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है' नामक निबन्ध में कहते हैं—"सहज भापा पाने के लिए कठोर तप आवश्यक है। जब तक आदमी सहज नहीं होता तब तक भाषा का सहज होना असम्भव है × × सहज मनुष्य ही सहज भाषा

१. हजारीप्रसाद द्विवेदी, विचार और वितर्क, पृ० ६३।

बोल सकता है। दाता महान होने से दान महान होता है। जिन लोगों ने गहन साधना करके अपने को सहज नहीं बना लिया है, वे सहज भाषा नहीं पा सकते।"[१] अर्थात् 'भाषा' कठोर तपस्या की मुखापेक्षी है, उस तपस्या की जिसके द्वारा साधक को परमतत्त्व सहज हो जाता है। भाषा भी परमतत्त्व है जो एकनिष्ठ और कठोर तपस्या के पश्चात् ही सहज हो पाती है।

सहज भाषा का निर्माण व्याकरण और भाषा शास्त्र के बल पर नहीं किया जा सकता। शब्द कोशों में प्रयुक्त शब्दों के अनुपात पर इसे गढ़ा नहीं जा सकता। द्विवेदीजी के अनुसार कबीर और तुलसी ने इस भाषा को प्राप्त किया था, महात्मा गांधी को भी यह भाषा मिली थी उसका कारण उनका सहज होना था। उनमें दान करने की क्षमता थी। निश्चय के साथ कहा जा सकता है कि द्विवेदीजी को भी यह भाषा मिली थी। उनका व्यक्तित्व भी अनेकानेक विशेषताओं से मण्डित था जिसके कारण वे सहज भाषा के स्वामी बन सके थे। द्विवेदी जी में अपना सब कुछ उलीचकर दे देने की क्षमता थी, उनमें मानवता के सभी गुण विद्यमान थे। तभी तो इस साधक को सहज भाषा की सहज प्राप्ति हुई।

द्विवेदीजी माहौल बनाकर पाठक को आत्मीयता और खुलेपन के साथ विश्वास में लेते हैं, उससे बातचीत करते हुए उसे अपनी भाव-भूमि पर बहका ले जाते हैं और फिर जो कहना होता है कह जाते हैं।

वस्तुतः विधाओं की भाषा सीमा को तोड़कर हर दिशा से आप्लावित हो एक रस होता हुआ कल-कल, छल-छल करता हुआ यह भाषा-जल केवल एक ही रंगवाला है, उसकी एक ही रंगत है, द्विवेदीजी के व्यक्तित्व की रंगत। और यह रंगत मानवतावादी गुणों से पुंजीभूत तथा काव्यमय भावनाओं से आप्लावित है।

---

१. वही, पृ० ६३-६४।

५

भाषा की रचनात्मकता और सूर की भाषा

–डॉ० चौथीराम यादव

भाषा का समाज से सीधा और गहरा सम्बन्ध होता है। हमारे आदिम मातृसत्तात्मक समाज की संरचना में मूल मानवीय अधिकार सुरक्षित थे। अधिकार और कर्त्तव्य के बीच कोई द्वन्द्वात्मक स्थिति नहीं थी। समता पर आधारित उस समाज-व्यवस्था में नारी और पुरुष की आर्थिक स्वतंत्रता समान थी। सामान्य जनजीवन अंधविश्वासों, जनविश्वासों, टोटेम्स और मिथकीय अवधारणाओं के माध्यम से देवी-देवताओं के चमत्कारों से आक्रांत था। मिथक वस्तुतः मानव की आदिम भाषा के रूप में जाने जाते हैं। इसलिए आज भी उनकी शक्ति भाषा की सर्जनात्मक बोधगम्यता का प्रतिमान है। पुराण मिथकीय अवधारणाओं के स्रोत हैं और सूरसागर में उनका सर्जनात्मक प्रयोग सामाजिक आधार पर किया गया है। मिथक का मूल आधार लोक-जीवन है जिसकी सामूहिक अभिव्यक्ति उनके श्रमजीवियों द्वारा रचित लोकगीतों में होती रही है और सूरसागर उसी परंपरा का चरम विकास है। गोपियों का स्वच्छन्द प्रेम समाज की वर्जनामूलक रूढ़ियों को तोड़ता है और समाज के स्तर पर यह रोमाण्टिक विद्रोह वस्तुतः पुरुषसत्तात्मक समाज-व्यवस्था के प्रति मातृ-सत्ता का विरोध भी है। इस सामाजिक परिवेश में सूर की भाषा की रचनात्मकता को पहचाना जा सकता है।

वस्तुतः भाषा के रचनाकार के लिए भी समस्या बनी हुई है। भाषा की गुत्थी को सुलझाने के सतत प्रयास में वह स्वयं उलझता जा रहा है। आज समाज की संरचना इतनी जटिल हो गई है कि एक सर्वसामान्य भाषा का रूप गढ़ पाना रचनाकार के लिए सचमुच एक बहुत बड़ी चुनौती है। आधुनिक रचनाकारों के इस संकट की ओर संकेत करते हुए अज्ञेय ने लिखा था—"कवि अनुभव करता है कि भाषा का पुराना व्यापकत्व उसमें नहीं है—शब्दों के साधारण अर्थ से बड़ा अर्थ हम उसमें भरना चाहते हैं, पर उस बड़े अर्थ को पाठक के मन में उतार देने के साधन अपर्याप्त हैं। वह या तो अर्थ कम पाता है या कुछ भिन्न पाता है।" (तारसप्तक: वक्तव्य,) इसमें संदेह नहीं कि आज

ज्ञान-विज्ञान की विविध शाखाओं-प्रशाखाओं तथा उसकी अनेक चिन्तनधाराओं के समानान्तर भाषा का कोई प्रभावी रूप विकसित नहीं हो पा रहा है। यहाँ 'अज्ञेय' ने भाषा के जिस पुराने व्यापकत्व को रेखांकित किया है, उससे पाठकों का ध्यान मध्यकाल के प्रतिष्ठित रचनाकार कबीर, जायसी, सूर और तुलसी की ओर जाना स्वाभाविक है। भारतीय जनमानस को सर्वाधिक प्रभावित करनेवाले इन रचनाकारों की लोकप्रियता का मूल कारण उनकी सहज भाषा भी रही।

'भाषा-आन्दोलन' मध्यकालीन हिन्दी भक्ति-आन्दोलन की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि रही है। कबीर, जायसी, सूर, तुलसी, केशव आदि सभी कवियों ने भाषा की शक्ति को पहचाना और संस्कृत की रूढ़ और जड़ परम्परा से अपने को मुक्त किया। ये रचनाकार अपने संदेश आम आदमी तक पहुँचाना चाहते थे, अतः उन्हीं की भाषा में अपनी बात कहना इन्होंने ज्यादा उपयुक्त समझा और कबीर ने इसकी अगुवाई की। आम आदमी के व्यापक मानवीय हितों का हनन करनेवाले प्रवंचक शास्त्रों के विरुद्ध संघर्षरत सन्तों ने भाषा के माध्यम से साहित्य को आम आदमी से जोड़ने का प्रयास किया और इसमें उन्हें पर्याप्त सफलता भी मिली। शास्त्रसमर्थक पंडितों को रामचरितमानस का भाषा-निबद्ध होना बहुत अच्छा नहीं लगा था और तुलसीदास का संस्कारी मन भी आभिजात्य के मोह से बहुत मुक्त नहीं हो पाया था। रामचरितमानस के बीच-बीच में रचे गये श्लोक इसके साक्षी हैं। केशवदास तो अपने भाषा-प्रयोग के प्रति कुण्ठाग्रस्त, चिन्तित एवं लज्जित भी दिखाई पड़ते हैं—

भाखा बोलि न जानहीं, जाके कुल के दास।
भाखा कवि भो मंदमति, तेंहि कुल केशवदास॥

यही कारण है कि केशव की भाषा में सहजता के स्थान पर पांडित्य और एक विशेष प्रकार का ज्ञान का आतंक हावी है। इनमें कबीर की भाषा-सम्बन्धी दृष्टि, उनकी विचारधारा की तरह साफ और स्पष्ट है। भाषा-प्रयोग को लेकर उनमें न किसी प्रकार की कुण्ठा है और न हीनता की भावना। सर्जनात्मकता की ह्रासोन्मुखी स्थिति के कारण संस्कृत जिस रूढ़िग्रस्त जड़ता तक पहुँच गयी थी; कबीर जैसे प्रगतिशील और अक्खड़ रचनाकार के लिए यह स्वाभाविक था कि वे संस्कृत के आभिजात्य को तोड़कर भाखापन को महत्त्व देते। कबीर की भाषा में आक्रामकता और आभिजात्य को खण्डित करने की अद्भुत शक्ति है। कबीर के जनवादी विचारों को वहन करनेवाली उनकी भाषा जनवादी भाषा के बहुत करीब है।

सूर की भाषा-सम्बन्धी स्थिति इन तमाम रचनाकारों से भिन्न है। वे न तो कबीर की तरह प्रखर जनवादी हैं और न अपने समकालीनों की तरह आभिजात्य के प्रति मोहग्रस्त। कबीर की भाषा की आक्रामकता प्रायः सूर के यहाँ मृदु विरोध के रूप में ही दिखायी देती है। सूर ने भाषा-सम्बन्धी कोई बयानबाजी नहीं की है। भाषागत जिन कतिपय विशेषताओं के कारण सूर अपनी अलग पहचान बनाते हैं, उन्हें मुखरित करना ही यहाँ अभीष्ट है। सूरदास की भाषा सामान्य जनजीवन के गद्य की भाषा है जिसे कवि की रचनात्मक क्षमता ने काव्य भाषा के समानान्तर ला खड़ा किया है। सूर के समकालीन और परवर्ती आलोचकों ने उनके भाषायी प्रभाव और सर्जनात्मक शक्ति को बराबर उनके समकालीनों से अलगाकर देखा है। 'किधौं सूर कौं सर लग्यों किधौं सूर कौं पीर' जैसी स्फुट आलोचनाएँ तथा नाभादास के भक्तमाल का सूर-सम्बन्धी पद, इसके प्रमाण हैं। सूर की कविता का संवेदनात्मक प्रभाव जो किसी योद्धा के बाण की तरह चुभता है और 'उक्ति चोज' मय पदों को सुनकर पाठक 'सिरचालन' के लिए विवश हो जाते हैं। क्या है उस प्रभाव का रहस्य? निःसंदेह यह सूर की संप्रेषण-क्षमतासम्पन्न भाषा का परिणाम है।

सूर की भाषा का विश्लेषण करने से पहले हम यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि हमारा लक्ष्य यहाँ सूर की भाषा का तथ्यात्मक विश्लेषण नहीं है। सामान्यतया किसी कवि की भाषा के अध्ययन-सम्बन्धी दो पक्ष हो सकते हैं—"कवि की भाषा में मौलिक सर्जनात्मक शक्ति और क्षमता की विवेचना और उसकी आधारभाषा का सामान्य व्याकरणिक विश्लेषण। पहले अंश में स्वभावतः आलोचनात्मक व्याख्या की शैली मिलेगी और दूसरे अंश में तथ्यपरक अनुसन्धान का प्रयत्न होगा। आलोचनात्मक व्याख्या की प्रक्रिया प्रत्येक कवि के वैशिष्ट्य को पकड़ने की दृष्टि से निजी और मौलिक ढंग से चलती है, और हिन्दी काव्यभाषा की संश्लिष्ट-समन्वित प्रकृति के सन्दर्भ में विकसित हुई है। व्याकरणिक विश्लेषण अधिकतर परम्परित पद्धति पर है, और पूरे विस्तार में न होकर प्रातिनिधिक रूप में किया गया है।" (डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी : मध्यकालीन हिन्दी काव्यभाषा, पृ० ६९) डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी के इस उद्धरण से स्पष्ट है कि किसी कवि के वैशिष्ट्य को पकड़ने की दृष्टि से निजी और मौलिक आलोचनात्मक व्याख्या ज्यादा उपयोगी होती है। सूर की भाषा का विवेचन करते समय हमने इस तथ्य को विशेष रूप से ध्यान में रखने का प्रयत्न किया है और व्याकरणिक विश्लेषण की परम्परित पद्धति को विवेचन का

आधार नहीं बनाया है। सूर की विशिष्टता को भाषा के माध्यम से जानने के लिए, मेरी दृष्टि में; भाषा की मूल्यपरक समीक्षा तथ्यपरक विश्लेषण की तुलना में अधिक उपयोगी है क्योंकि उसमें सामाजिक मूल्यों और अर्थ-छायाओं की व्यापकता को पहचानने की शक्ति होती है। अतः घटनाओं के घात-प्रतिघात, पशुचारण-काल की जन-संस्कृति से लेकर कृषि-संस्कृति और सामन्ती संस्कृति तक के फैलाव को समेटनेवाली समाहार-शक्ति और उससे उपजी विशिष्ट सौन्दर्य-दृष्टि आदि से अलगाकर 'सूर' की भाषा का समाजशास्त्रीय और व्यापक ऐतिहासिक विश्लेषण नहीं किया जा सकता।

सूर की कविता का मूल विषय प्रेम और सौन्दर्य है जो लोकजीवन के विविध उपादानों से अनुप्राणित भक्ति का उदात्त आधार पाकर वर्जनशीलता के सामने विनम्र विद्रोह बनकर उठ खड़ा हुआ है। जनसंस्कृति से प्रभावित समाज में कठोर श्रम के परिहार के लिए सामूहिक नृत्य, संगीत और नाटक की भूमिका होती है। डॉ० रमेश कुन्तल मेघ के अनुसार "चरवाही भूमिका में ही विश्व का अन्तर्मुखी लिरिकल-बोध जागरूक और मधुमय रहा है। चरवाही भूमिका पर यूनान में शोक गीतियों की एक ज्योतिर्मय परंपरा है। चरवाही भूमिका पर भारत में अष्टछाप के कवियों की वैष्णव भक्ति का महाभाव अंकित हुआ है।" ('क्योंकि समय एक शब्द है'—पृ० ४३९) यही महाभाव सूर की भाषा में घुल-मिलकर एकाकार हो गया है। सूर की कविता में रस और रूप के इस मणि-कांचन योग ने उसे और अधिक निखारा है। वस्तुतः सूर की भाषा वह बहता नीर है जिसमें केवल मिठास है, कोई गतिरोध नहीं। सूरसागर में ऐसे प्रसंग भी आते हैं जहाँ भाषा का तेवर बदल सकता था; उसमें ओज का पर्याप्त सन्निवेश हो सकता था किन्तु विचारधारात्मक उत्तेजना के अभाव में ऐसा नहीं हो सका। कृष्ण ने पशुधन की वृद्धि के लिए व्यक्तिपूजा (इन्द्र) का विरोध कर गोवर्द्धन-पूजा की प्रतिष्ठा करते हुए ब्रजवासियों में वर्गीय चेतना का विकास किया कि तुम्हारे उत्पादन के साधन और तुम्हारा सामूहिक श्रम किसी इन्द्र की तुलना में ज्यादा महत्त्वपूर्ण है। इसमें संदेह नहीं कि सूरसागर का यह प्रसंग उसका सबसे आधुनिक और जनतांत्रिक मूल्यों की स्थापना के प्रयास की दृष्टि से बहुत ही सकारात्मक है किन्तु यहाँ भाषा की संघर्षशीलता का अभाव खटकता है।

सूरदास ने भाषा को अपने आंतरिक अनुभव में इस प्रकार ढाल लिया था कि भाव-संप्रेषण के संकट से वे प्रायः मुक्त रहे। उनका शैली सौन्दर्य रचनात्मक

भाषा का अनिवार्य अंग है। सूरदास की भाषा के विषय में आचार्य हजारी-प्रसाद द्विवेदी लिखते हैं—"कवि की भाषा का उत्कर्ष देखना हो तो देखना चाहिए कि वह कितने कम शब्दों में, कितनी छोटी सीमा में बैठकर, किस असीम की ओर इशारा कर सका है। 'काव्यप्रकाश' के शब्दों में उसके वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ अतिशायी हुआ है।" (सूरसाहित्य : पृ० १६३) स्पष्ट है कि द्विवेदीजी ने भाषा-सम्बन्धी जिन गुणों की ओर संकेत किया है, वे सूर की भाषा के सहज गुण हैं। वाच्यार्थ का व्यंग्यार्थ से अतिशायी होना और अपनी सहजता को बनाये रखना भाषा की बहुत बड़ी उपलब्धि है। समकालीन हिन्दी कविता में भाषा की सपाटबयानी की काफी चर्चा की गई है। लेकिन सपाटबयानी का यह आन्दोलन अर्थवत्ता से दूर केवल नारेबाजी में सिमटकर रह गया। सूर की भाषा अपने सहज रूप में सपाटबयानी के पर्याप्त निकट है। सच तो यह है कि सूर की भाषा की सपाट बयानी अर्थ के अनेक क्षितिज खोलती है। और इस नये भाषा-आन्दोलन की उपजीव्य कही जा सकती है। सूरदास के साधारण शब्द भी इतने अर्थवाही होते हैं कि अर्थ की परतें-दर-परतें खुलती जाती हैं। एक पद लीजिए—

कोउ माई आवत है तनु स्याम।
वैसे पट वैसिय रथ बैठनि, वैसीये उर दाम॥
जो जैसें तैसें उठि धाइं, छाँड़ि सकल गृह काम।
पुलक रोम गदगद तेहीं छन, सोभित अंग अभिराम॥
इतने बीच आइ गये ऊधो, रहीं ठगी सब बाम।
सूरदास ह्यां कत आवैं, बँधे कुबिजा रस-दाम॥

(सूरसागर-सार : सं० डॉ० धीरेन्द्र वर्मा; पृ० १५७)

प्रस्तुत पद में सामान्य शब्दों का ही प्रयोग किया गया है। यहाँ वस्तु और शिल्प परस्पर इस प्रकार घुल-मिल गये हैं कि उन्हें अलगाया नहीं जा सकता। शिल्प के नाम पर सहज भाषा के सामान्य शब्द हैं और कथ्य को प्रामाणिक एवं प्रभावशाली बनाने के लिए मनोवैज्ञानिक आधार और कल्पना का सहारा लिया गया है। मथुरा की ओर से ब्रज में आनेवाले रथ को देख और उसमें कृष्ण के बैठे होने का अनुमान कर गोपियाँ प्रसन्न होती हैं। रथ के और निकट आने पर उसमें बैठे हुए व्यक्ति का अस्पष्ट आकार-प्रकार उन्हें दिखायी पड़ता है जो कृष्ण की तरह ही मुकुट, कुण्डल और पीतांबर धारण किये हुए है।

बैठने की वही मुद्रा, सारथी से बात करने का वही लहजा, गले में धारण की हुई वही माला आदि देखकर कृष्ण के न होने का कोई सवाल ही नहीं उठता। अप्रत्याशित सुख-प्राप्ति की कल्पना में पुलकित गोपियाँ कृष्ण का स्वागत करने आगे दौड़ जाती हैं। इसी बीच सहसा रथ का आकर रुक जाना, सारी स्थितियों को उलट-पुलट देता है। गोपियों का अनुमान जो आशा और विश्वास के सहारे हर्षोल्लास की सीमा तक पहुँच चुका था, उसे एक आकस्मिक झटका लगता है। इस मनोवैज्ञानिक नाटकीय मोड़ द्वारा कल्पना के यथार्थ में बदलते ही सारी आनन्दमूलक स्थितियों का रूपान्तरण एकबारगी निराशा, अविश्वास और भयमिश्रित आशंका के त्रासद वातावरण में होता है। ऐसी सरल-सीधी भाषा को नाटकीय कलात्मकता द्वारा सहसा इतना अर्थ गर्भित बना देना, सूर जैसे सधे हुए रचनाकार का ही कौशल है। इसी प्रकार एक दूसरा पद है—

कहियौ ठकुराइति हम जानी।
अब दिन चारि चलहु गोकुल मैं, सेवहु आइ बहुरि रजधानी ॥
हमकौं हौंस बहुत देखन की, संग लियैं कुबिजा पटरानी।
पहुनाई ब्रज कौं दधि माखन, बड़ो पलंग अरु तातो पानी ॥
तुम जनि डरौ उलूखल तोर्‌यौ दाँवरिहू अब भई पुरानी।

(वही, पृ० १६९)

इस पद में गोपियों द्वारा, कृष्ण के आरोपित आभिजात्य का जैसा पर्दाफाश किया गया है, उसमें उनकी गर्वमिश्रित अधिकार-भावना तथा आज्ञामूलक निर्देश भी निहित है। साथ ही कृष्ण-कुब्जा के अटपटे और असंगत प्रेम-सम्बन्धों का मजाक भी उड़ाया गया है। कृष्ण को वैसे तो अनेक रूपों में देखा गया है किन्तु पटरानी कुब्जा के साथ उनकी जोड़ी कितनी फबती होगी? इसे देखने की कितनी ललक और उत्सुकता गोपियों में है, कम-से-कम यह जानने के लिए तो कृष्ण को आना ही चाहिए—मेहमान के रूप में ही सही। आतिथ्य-सत्कार करने का पूरा आश्वासन भी उनकी ओर से दिया जाता है—गरम-गरम पानी और बड़ा पलंग—'करम-करम करि न्हाने' वाले कृष्ण तथा उनकी नई पटरानी कुब्जा के लिए। पूर्वानुभूत जीवन की अनेक सुखद स्मृतियों की याद दिलानेवाले विविध प्रसंगों से युक्त ऐसी अर्थगर्भित भाषा का सटीक प्रयोग सूर की अपनी विशेषता है। ऐसे सपाट पद में भी केवल 'ह्यूमर सेन्स' और 'विट पावर' के द्वारा भाषा की अभिव्यंजनाशक्ति को प्रभावशाली बनाया गया है। सही बात तो यह है कि 'ह्यूमर सेन्स' और 'विटपावर' का इतना

धनी कोई दूसरा रचनाकार समूचे मध्यकाल में दिखायी नहीं पड़ता। भ्रमरगीत के उन काव्यात्मक पदों की चर्चा यहाँ अभीष्ट नहीं है। यहाँ हम उन साधारण पदों की चर्चा कर रहे हैं जिनकी भाषा सपाटबयानी के निकट है। इस सन्दर्भ में हम एक और उदाहरण देकर इस मुद्दे को यहीं समाप्त करेंगे—

सुनियत मुरली देखि लजात।
दूरहिं ते सिंहासन बैठे, सीस नाइ मुसकात।
मोर पच्छ कौ व्यजन विलोकत, बहरावत कहि बात।
जौ कहुँ सुनत हमारी चरचा, चालतहीं चपि जात॥
सुरभी लिखित चित्र की रेखा, सोचेहूँ सकुचात।
सूरदास जो व्रजहिं बिसार्‌यो, दूध दही कत खात॥

(सूरसागर भाग २, सभा संस्करण, पृ० १२९०-९१)

यहाँ गोपियों ने अपने भोलेपन में ही कृष्ण के दोहरे चरित्र को पूरी तरह से नंगा कर दिया है। मथुरा जाते ही उनके प्रेम की कलई खुल गई और यह प्रमाणित हो गया कि उन्होंने मुँहदेखी प्रीति की थी। कृष्ण और गोपियों की सारी प्रेमलीला के उपकरण—मुरली, गाय, मोरपंख और गोपिकाओं की चर्चा मात्र अब कृष्ण को लज्जित करने लगी है। जन-संस्कृति और राजन्य-संस्कृति के इस टकराव से कितना अन्तर आ गया है कि जो व्यक्ति लगातार गायें चराता रहा हो तथा सिर पर मोरपंख धारण किए हुए मुरली बजाकर सतत अपनी प्रेमिकाओं को रिझाता रहा हो; वह सहसा सामन्ती परिवेश में जाते ही हीन भावना से ग्रस्त हो जाय, यह उसकी मानसिक दुर्बलता का परिचायक है। कृष्ण के चरित्र का यह पक्ष वर्तमान समाज के मध्यवर्गीय चरित्र से बहुत भिन्न नहीं दिखलायी पड़ता। अपने से ऊपरी वर्ग की सुख-सुविधाओं को देखनेवाला आज का मध्यवर्गीय व्यक्ति किस प्रकार मिथ्या आत्मप्रदर्शन और झूठी आत्मप्रतिष्ठा के मोह में पड़कर कुण्ठाग्रस्त एवं हीन भावना का शिकार हो रहा है, यह बताने की आवश्यकता नहीं। यह आकस्मिक नहीं है कि मथुरा जाते ही कृष्ण का वर्ग बदल जाता है जिसके चलते उनके रहन-सहन, खान-पान और सोचने-समझने के तौर-तरीके में भी फ़र्क पड़ जाता है। अगर यह पद इतने व्यापक अर्थ की व्यंजना करता है जिसमें आज की मध्यवर्गीय दुर्बलता का सत्य छिपा हुआ है तो यह मानना पड़ेगा कि सूर की सपाट भाषा से सपाटबयानी के हिमायतियों को बहुत कुछ सीखना शेष है।

सूर की भाषा-सम्बन्धी अगली विशेषता यह है कि वह सामान्य जीवन के गद्य की भाषा है। जिन्दगी के मुहावरों में ढली हुई होने के कारण वह व्रजभाषा-गद्य का नमूना भी पेश करती है। भाषा के गद्यात्मक होने के बावजूद उसमें सांगीतिक लय और प्रवाह भी बना रहता है, यह कम महत्त्वपूर्ण बात नहीं है। समकालीन कविता शिल्प के विविध उपादानों की अन्तर्यात्रा करती हुई अपने को गद्य के निकट प्रतिष्ठित करने के लिए प्रयत्नशील प्रतीत होती है। भाषा की इस गद्यात्मकता की ओर संकेत करते हुए डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी लिखते हैं—"क्लैसिकल पद्धति पर लिखे हुए काव्य—विशेषतः प्रवन्ध-में मध्यकाल से लेकर वर्तमान शताब्दी के आरम्भिक दशकों तक मात्रिक छन्द या वर्णवृत्त दोनों में नियोजन और नियमन से लय उत्पन्न होती है। फिर निराला और छायावाद के मुक्त छन्द में लय का उन्मुक्त रूप मिलता है और उसके बाद प्रयोगवाद तथा नई कविता में लय का जो भी कुछ रूप शेष है, वहाँ कविता की पंक्तियों में गद्य जैसा विन्यास प्रवाह को भंग करता हुआ संगीत की नहीं वरन् भाषा की अपनी अन्तर्निहित लय को ऊपर उठाता है।" (अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या : पृष्ठ ११) इस उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि भाषा आरंभ में लयात्मक थी और अब धीरे-धीरे लय को छोड़ती हुई गद्यात्मक होती जा रही है। उसमें संगीत की लय नहीं भाषा की अन्तर्निहित लय का विकास हो रहा है। भाषा अगर कविता और गद्य को निकट ला सके तो यह उसकी बहुत बड़ी उपलब्धि होगी। सूर की भाषा के गद्यात्मक स्वरूप में सांगीतिक लय विशेष बाधक नहीं है।

सूर की भाषा अपनी पूरी अभिव्यंजना-शक्ति के साथ बोलचाल की भाषा के पर्याप्त निकट है। भ्रमरगीत-प्रसंग भाषा की लाक्षणिकता और व्यंजनात्मक शक्ति की दृष्टि से सबसे महत्त्वपूर्ण स्थल हैं। यहाँ पर संगीत की लय के साथ ही भाषा का स्वरूप गद्यात्मक है। भ्रमरगीत के पदों की अधिकांश पहली पंक्तियाँ तो प्रायः गद्य के वाक्यांश रूप में प्रयुक्त हुई हैं। वाक्य-विन्यास पूर्णतया गद्य की तरह सीधा और सरल है। कुछ उद्धरणों से इसे समझा जा सकता है—(क) हरि गोकुल की प्रीति चलाई (ख) ऊधो तुम यह निहचै जानो (ग) ऊधो मन अभिमान बढ़ायो (घ) तब ऊधौ हरि निकट बुलायो (ङ) भली भई हरि सूरति करी (च) हम तौ सब बातनि सचु पायो (छ) जानि करि बावरी जनि होहु (ज) ऊधो हरि गुन हम चकडोर (झ) अँखियाँ हरि दरसन की प्यासी (ञ) मधुबनि लोगनि को पतियाइ (ट)

ऊधौ कही सु फेरि न कहिऐ (ठ) ऊधौ हरि काहे के अंतरजामी (ड) निरगुन कौन देस को बासी (ढ) जोग ठगौरी ब्रज न बिकैहैं (ण) हम तौ कान्ह केलि की भूखी (त) ऊधौ मन न भये दस-बीस (थ) इहिं उर माखन चोर गड़े (द) मधुकर स्याम हमारे चोर (ध) ऊधौ भली भई ब्रज आए (न) ऊधौ जोग बिसर जनि जाहु (प) (ऊधौ) ना हम बिरहिनि ना तुम दास।

इन उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि ये प्रायः गोपियों की भाषा के वाक्यांश हैं। शिक्षित समाज की भाषा की तुलना में अशिक्षित समुदाय की भाषा ज्यादा व्यंजनात्मक और मीठी चोट करनेवाली होती है। भाषा-सम्बन्धी इन्हीं विशेषताओं के कारण मध्यकालीन रचनाकारों में सूर की भाषा का महत्त्व बहुत कुछ वैसा ही है जैसा आधुनिक कथा-साहित्य में प्रेमचन्द की भाषा है। प्रेमचन्द की भाषा भी बोलचाल के निकट की मुहावरेदार भाषा है जो अपनी सहज संप्रेषणीयता के कारण जन-समुदाय से सीधे जुड़ी हुई है।

सूर की भाषा के गद्यात्मक स्वरूप का एक और कारण यह है कि मूलतः वह आम जिन्दगी की भाषा है। सामान्य जन-जीवन के मुहावरे, लहजे, सांस्कृतिक आचार-विचार, सामाजिक रीति-रिवाज, तीज-त्योहार और उत्सव आदि की जीवन्तता को रूपायित करनेवाली सहज प्रचलित भाषा ही सूर की भाषा है जो जिन्दगी के मुहावरों और अनुभवों से टकराकर कहीं-कहीं आक्रामक और धारदार हो उठी है। स्वभावतः सूर की भाषा में मुहावरों, लोकोक्तियों और कहावतों की प्रधानता है। ध्यान देने की बात है कि इनका सर्वाधिक प्रयोग गोपियों की भाषा के माध्यम से भ्रमरगीत प्रसंग में किया गया है। सूरदास मुहावरे और लोकोक्तियों की असरदार शक्ति से भलीभाँति परिचित थे, अतः उचित अवसर पर उन्होंने इनका प्रयोग किया है। सीधी-सरल लोकोक्तियों में मानव-समाज के चिर-संचित अनुभव का मनोवैज्ञानिक सत्य निहित होता है। समाज के सामूहिक अनुभव ही अपने लक्ष्यार्थ में रूढ़ होकर मुहावरे और लोकोक्तियों का रूप ग्रहण करते हैं। इनकी सार्थकता और उपयोगिता पर विचार करते हुए डॉ॰ मनमोहन गौतम लिखते हैं—"प्रायः जब किसी को अपने प्रियजन के प्रति कोई कटु बात या अप्रिय सत्य कहने की इच्छा होती है तो वह विषम स्थिति में पड़ जाता है। अपने प्रिय या सामान्य जन के प्रति ऐसी बात कैसे कहें, न केवल कहे जानेवाले व्यक्ति की अप्रसन्नता का प्रश्न है वरन् ऐसा कथन अशिष्ट भी हो जायगा। बात दिल से उठकर होठों तक आती है और रुक जाती है। ऐसी अवस्था में लोकोक्तियाँ और

मुहावरे साहाय्य के लिए आ उपस्थित होते हैं। अपनी बात न कहकर परम्परागत वाक्यांश या वाक्य के प्रयोग से वह अपना भाव भी स्पष्ट कर देता है, शिष्टता की पूरी रक्षा होती है, कटु सत्य प्रिय बन जाता है। मीठी मार उद्दिष्ट पर गहरा घाव करती है, बेचारा मुस्कराकर आहत होता हुआ धराशायी होता है और प्रहारकर्त्ता प्रहार का भरपूर प्रभाव देखकर मुग्ध हो जाता है।'' (सूर की काव्य-कला : पृष्ठ २३४) इसमें सन्देह नहीं कि भ्रमरगीत प्रसंग में उद्धव को निरुत्तर कर देनेवाली गोपियों की आक्रामक भाषा की सफलता का रहस्य इन्हीं मुहावरों और लोकोक्तियों की भित्ति पर आधारित है। उक्ति की वक्रता लोकोक्तियों का अनिवार्य गुण है और वचन-विदग्धता भ्रमरगीत की भाषा की मूल शक्ति। एक उदाहरण लिया जा सकता है—

आए जोग सिखावन पांड़े।
परमारथी पुराननि लादे, ज्यों बन जारे टांड़े॥
हमरे गतिपति कमल नयन की, जोग सिखैं ते रांड़े।
कहौ मधुप कैसे समाहिंगे, एक म्यान दो खांड़े॥
कहु षटपद कैसे खैइयत है, हाथिन के संग गांड़े।
काकी भूख गई बयार भखि, बिना दूध घृत मांड़े॥
काहे कौ झाला लै मिलवत, कौन चोर तुम डांड़े।
सूरदास तीनों नहिं उपजत धनियाँ धान कुम्हाड़े॥
(सूर-सागर-सार : सं० डॉ० धीरेन्द्र वर्मा; पृ० १६७)

यहाँ 'पांड़े' शब्द व्यंग्यगर्भित है। 'पाँड़े' की धार्मिक संकीर्णता द्वारा योग सिखानेवाले उद्धव की दुराग्रही वृत्ति की व्यंजना की गई है। 'हमरे गतिपति कमलनयन' में सगुण के प्रति आस्था तथा 'योग सिखैं तें राँड़' में निर्गुण के प्रति उपेक्षा और अस्वीकृति का भाव स्पष्ट किया गया है। पात्र की पात्रता का विचार किये बिना किसी व्यक्ति को ज्ञानोपदेश देना वैसे ही अटपटा एवं असंगत है जैसे 'एक म्यान में दो खाँड़' का होना अथवा एक ही समय एक स्थान पर 'धनियाँ, धान, कुम्हाड़' की कल्पना करना। एक तो कोमलांगी गोपियों का अपढ़ और अशिक्षित होना; दूसरे सधवा का जीवन जीना—इन स्थितियों में योग की शिक्षा देना केवल असंगत ही नहीं, निरर्थक भी है। 'राँड़' शब्द का प्रयोग कितना सार्थक और सटीक है। 'विधवा' शब्द में जहाँ कोमलता, भोलेपन और सामाजिक सहानुभूति का भाव है, वहीं 'राँड़' शब्द के उच्चारण की कर्कश ध्वनि में गोपियों के आक्रोश, उपेक्षा और अवमानना

का भाव निहित है। गोपियों की व्यावहारिक दृष्टि से उद्धव के सैद्धान्तिक 'तत्त्वज्ञान' की निरर्थकता सिद्ध करने के लिए 'परमारथी पुराननि लादे ......' की पंक्ति कितनी अर्थगर्भित है।

इसी प्रकार 'घर ही के वाढ़े रावरे', 'जल बूड़त अवलंब फेन कौ', 'धुर ही तें खोटो खायौ है', 'खाटी मही कहा रुचि मानै सूर खवइया घी कौ', 'तुम सौं प्रेम कथा का कहिवो मनो काटिवो घास', 'जोवन रूप दिवस दस हीके', 'भूरी के पातन के बदलैं को मुक्ताहल देहैं', 'स्वान पूंछ कोउ कोटिक लागै, सूधी कहुँ न करी' आदि के सार्थक एवं अर्थगर्भित प्रयोग को देखकर सूर की दूरदर्शी दृष्टि एवं सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति का परिचय मिलता है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि ये उक्तियाँ भाषा की रूढ़ता की माध्यम मात्र न होकर सशक्त व्यंजना की आवश्यक उपादान हैं। इन्हें सूर के व्यापक सामाजिक अनुभव का प्रामाणिक दस्तावेज भी कहा जा सकता है।

सूरदास की भाषिक-संरचना में तत्सम की अपेक्षा तद्भव शब्दों को ज्यादा तरजीह देना, रचनाकार के लोकजीवन के व्यापक अनुभवों के वीच से निकली भाषा की जीवंतता का परिचायक है। तत्सम शब्दों का रूप-परिवर्तन करके भी 'भाखापन' की बराबर रक्षा की गई है। इस प्रकार तत्सम शब्दावली प्रायः कट-छँटकर ब्रजभाषा के माधुर्य में घुल-मिल गई है। सूरदास ने ब्रजभाषा की न केवल नई जमीन ही तोड़ी है अपितु उसे उर्वर और पर्याप्त सृजनशील भी बनाया है। इस क्रम में उन्हें शब्दों को तोड़ने-मरोड़ने की अनेक प्रक्रियाओं से गुजरना पड़ा है। खड़ी बोली को काव्यभाषा बनाने में जो योगदान सुमित्रा-नन्दन पंत का है, ब्रजभाषा के वनाने और सँवारने में सूर का योगदान उससे कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। शब्द और उसकी लय से सूरदास का बहुत गहरा रिश्ता है। शब्द उनके इतने जाने-पहचाने लगते हैं कि कवि की रचना-प्रक्रिया में; अवसर के अनुकूल, वे सहज ही उपलब्ध रहते हैं।

सूर की भाषा का एक और अनिवार्य उपादान है—भावचित्र या बिम्ब-सृष्टि। सूर ने न केवल परम्परा-प्राप्त भावचित्रों का कलात्मक उपयोग किया है बल्कि सीधे-सरल शब्दों के द्वारा मनोनुकूल बिम्ब-सृजन में भी उनकी मौलिकता का परिचय मिलता है। सच पूछा जाय तो समूचे मध्यकाल में सूर जैसा बिम्ब-स्रष्टा दूसरा कोई नहीं दिखाई पड़ता। सूर के बिम्ब-विधान में उनके जीवन का अनुभव इस प्रकार से संपृक्त हो गया है कि सूर की बिम्बात्मक भाषा अपने

सामान्य शब्दों के द्वारा भी विशिष्ट अर्थों की व्यंजना करने में पूर्णतः सक्षम है। उपलक्षित बिम्बों (फिगरेटिव इमेज़री) के निर्माण में सादृश्यमूलक अलंकारों—विशेषतः उपमा एवं उत्प्रेक्षागत अप्रस्तुतों की सहायता ली गई है। समूचा 'सूरसागर' लक्षित-उपलक्षित बिम्बों से भरा पड़ा है। यह बताने की आवश्यकता नहीं कि बिम्बात्मक भाषा ही बोधगम्यता का मूलाधार है।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि सहजता ही सूर की भाषा का सबसे बड़ा सौन्दर्य है। भावानुकूलता के साथ ही लयात्मक होने के बावजूद वह ब्रजभाषा गद्य के निकट की भाषा है। गोपियों की सर्जनात्मक भाषा सूर की सबसे बड़ी उपलब्धि है जिसमें मुहावरों, लोकोक्तियों, ह्यूमर सेन्स और वचन-विदग्धता का महत्त्वपूर्ण योगदान है। सबसे महत्त्वपूर्ण बात तो यह कि इस सृजन शीलता का मूल आधार लोक-जीवन पर आधारित लोकधर्म है जिसके अनुभाव ज्ञान की यथार्थता को आत्मसात् कर महाकवि ने अपनी विवेक-पूर्ण दृष्टि का परिचय दिया है। ●

'राम की शक्ति-पूजा' में संघर्ष

—डॉ० बलिराज पाण्डेय

'राम की शक्ति-पूजा' निरालाजी की एक लम्बी कविता है। पूरी कविता में इतनी ऊर्जा है कि वह रामचरितमानस जैसे महाकाव्य को चुनौती देती हुई प्रतीत होती है। 'राम की शक्ति-पूजा' के राम राज-दरबार से नहीं, बल्कि सीधे युद्ध-भूमि से बोल रहे हैं। कविता की शुरुआत राम-रावण के संघर्ष से होती है। यह संघर्ष व्यापक अर्थ में सात्त्विक और आसुरी प्रवृत्तियों का संघर्ष है। इस संघर्ष में स्वयं कवि भी किसी न किसी रूप में शामिल है।

राम-रावण के संघर्ष में कवि दोनों पक्षों की सेनाओं की वीरता का वर्णन करता है। घात-प्रतिघात होते हैं। रण-कौशल में दोनों बेजोड़ हैं। एक का काट दूसरा तुरन्त तैयार कर लेता है। इसलिए जल्दी किसी पक्ष की शक्ति का थाह नहीं लग पाता। लेकिन एक दिन की लड़ाई जिस तरह से खत्म होती है उससे राम यानी सात्त्विक प्रवृत्ति की पराजय के लक्षण दिखाई देने लगते हैं। राम और उनके सेनानायक इसे महसूस भी करते हैं। युद्ध में अपनी शक्ति का सही आकलन करना युद्ध करनेवाले की एक बड़ी विशेषता होती है, क्योंकि इससे अपनी शक्ति को बढ़ाने व सेना के कमजोर पक्ष को मजबूत करने में मदद मिलती है। कविता के शुरू में ही कवि ने राम की पराजय का आभास दे दिया है। 'रवि हुआ अस्त' में केवल दिवसावसान की प्रतीति ही नहीं, बल्कि रवि के अस्त होने में राम की पराजय का संकेत निहित है। राम सूर्यवंश में उत्पन्न हुए हैं। रवि उसका भी पर्याय है। इस प्रकार कविता संघर्ष और संघर्ष में पराजय से शुरू होती है। यह पराजय केवल राम की नहीं, राम के साथ-साथ स्वयं कवि के संघर्षपूर्ण जीवन की पराजय है। डॉ० रामविलास शर्मा के अनुसार यह पराजय ब्रिटिश साम्राज्यवाद से संघर्ष कर रही भारतीय जनता की पराजय है।

राम के सहायक युद्ध-भूमि में घायल और मूर्च्छित अवस्था में पड़े दिखाई देते हैं। निराशा के इस वातावरण में 'हनुमत् केवल प्रबोध' से आशा की एक क्षीण रेखा दिखाई देती है। यहाँ राम के साथ-साथ हनुमान् भी भारतीय जनता

की शक्ति के प्रतीक वन जाते हैं, लेकिन केन्द्र में राम हैं जो अभी पराजित हो रहे हैं। शुरू में ही राम की पराजय के वर्णन से समस्त पाठकों की सहानुभूति राम के पक्ष में हो जाती है और यह सहानुभूति कविता के विकास के साथ-साथ और गहरी होती जाती है। राम की पराजय सामान्य नहीं है। इसका प्रभाव न्याय की आकांक्षा रखनेवाली समस्त जनता पर पड़ रहा है। 'राक्षस-पद-तल, पृथ्वी टलमल' यानी राक्षसों की क्षणिक विजय से जब समूची पृथ्वी काँप रही है तो दीर्घकालीन विजय का क्या परिणाम होगा। फिर 'विंध महोल्लास से वार-बार आकाश विकल' यानी पृथ्वी से कर आकाश ले मण्डल तक के प्राणियों में एक प्रकार की बेचैनी है क्योंकि पृथ्वी और आकाश की स्थिति पर ही प्राणि-जगत् का अस्तित्व निर्भर करता है। इसलिए राम की पराजय का मतलब हुआ प्राणि-जगत् के अस्तित्व का अन्त।

राम-रावण का युद्ध अभी खत्म नहीं हुआ है। आजादी के पूर्व रावण यानी आसुरी शक्ति के रूप में ब्रिटिश साम्राज्यवाद था और उसके विरुद्ध संघर्ष में भारतीय जनता हार रही थी। आजादी के वाद आसुरी शक्ति के रूप में देशी व विदेशी पूंजीवाद मौजूद है जिसके खिलाफ जनता संघर्ष-रत है लेकिन अभी जीत आसुरी शक्ति की ही हो रही है। इस प्रकार राम की पराजय और आजादी के बाद की भारतीय जनता की पराजय में अवश्य ही कहीं-न-कहीं समानता है।

'राम की शक्ति-पूजा' में प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से कई स्तरों पर संघर्ष चलता है। प्रत्यक्षरूप से राम का संघर्ष रावण और उसकी रक्षा करनेवाली शक्ति के साथ है। लेकिन राम को कहीं-न-कहीं अपने से भी लड़ना पड़ रहा है। एक तरफ राम हैं और दूसरी तरफ रावण, शक्ति और उनका (राम का) निराशा से युक्त मन। राम अकेले पड़ जाते हैं। इसलिए बार-बार उन्हें पराजय मिलती है। उनका मुख्य दुश्मन है—निराशा और अवसाद से भरा हुआ मन। निराश मन के साथ जब आदमी युद्ध-भूमि में उतरता है तो कमजोर शत्रु भी मजबूत दिखाई देता है। ऐसे में अपनी असली शक्ति भी क्षीण होती जाती है। आशा या उत्साह के अभाव में छोटी लड़ाई को भी जीतना मुश्किल होता है। इसका असर सेना और रणनीति परपड़ता है। फिर प्रकृति भी राम का साथ नहीं देती। भयानक अंधकार में समुद्र का अप्रतिहत गर्जन राम की चेतना को प्रभावित करता है। पवन का संचरण होता तो वस्तुएँ हिलती-डुलतीं। इससे भी राम को कम-से-कम दिशा का ज्ञान प्राप्त करने में सहायता मिलती।

लेकिन वायु का आचरण भी राम के पक्ष में नहीं है। एक प्रकार से सर्वत्र गति का अभाव है। चारों ओर जड़ता ही जड़ता दिखाई दे रही है। गति के अभाव में पराजय ही संभव है। जीवन धारण करने में सहायक पाँच तत्त्वों में प्रत्यक्ष रूप से गगन, वायु और जल (समुद्र) राम के विरोध में हैं। राम का विरोध इनका स्वभाव नहीं है, बल्कि विवशता है, क्योंकि रावण ने बलपूर्वक इनको अपने वश में कर लिया था। राम का संघर्ष एक प्रकार से जीवन प्रदान करने वाली शक्तियों को मुक्त कराने के लिए है। यह संघर्ष राम अपनी स्त्री सीता के लिए ही नहीं, 'पृथ्वी-तनया' यानी पृथ्वी की संतान को मुक्त कराने के लिए कर रहे हैं। संकट में पृथ्वी की सन्तान है यानी सम्पूर्ण पृथ्वी है। रावण की शक्ति का अंदाजा राम को है। जनकपुर में स्वयंवर के समय राम की शक्ति ने रावण ही नहीं बल्कि संपूर्ण पृथ्वी के जाने-माने राजाओं की शक्ति पर अपनी श्रेष्ठता सिद्ध की थी। उस समय भी 'पृथ्वी-तनया' संकट में थीं, आज भी वे संकट में हैं, लेकिन स्वयंवर में राम का मन उत्साह और विजय की भावना से परिपूर्ण था। इस बार राम का मन निराशा और अवसाद से भरा हुआ है। राम की पराजय का मुख्य कारण यही है।

थोड़ी देर के लिए पराजय का अवसाद अगर कम होता है तो सौंदर्य और प्रेम के द्वारा। राम जनक-वाटिका की सीता के प्रेम और सौंदर्य का स्मरण करते हैं, फिर धनुष-यज्ञ और उसमें अपनी विजय का स्मरण। ये घटनाएँ राम की निराशा को दूर करने में सहायक हैं। निरालाजी ने सौन्दर्य और प्रेम को एक नया अर्थ दिया है कि युद्ध में उसकी सक्रिय भूमिका हो सकती है। प्रेम और सौंदर्य में वह ताकत होती है जिससे मनुष्य का निराश और पराजित मन भी विश्व-विजय की भावना को धारण करने में समर्थ हो जाता है। सीता का सौंदर्य राम को युद्ध करने की प्रेरणा देता है। एक प्रकार से वह संकट की स्थिति में राम को सहारा देने का काम करता है।

पूरी कविता मे आशा-निराशा, जय-पराजय का द्वन्द्व चलता रहता है। शुरू में रावण का पक्ष बीस पड़ता है। राम को चिन्ता होती है। योद्धा घायल पड़े हैं। अगले दिन की लड़ाई कैसे लड़ी जाएगी। यह सोच-सोचकर राम की आँखों से आँसू के दो बूंद गिर पड़ते हैं। डॉ० रामविलास शर्मा के अनुसार भावों को दबाए रहने के विकट प्रयत्न के बाद आँखों में जो आँसू आए हैं, वे भावुकता के प्रमाण नहीं, वे घनीभूत शोक की व्यंजना हैं। 'राम की शक्ति-पूजा' में राम धैर्य के अवतार हैं। आकाश और सागर सब कुछ चंचल और

क्षुब्ध हैं, केवल राम पर्वत की तरह उस अंधकार में अपनी जगह स्थिर हैं। उन राम के पराजित मन से उमड़ते हुए दो आँसू आँखों से नीचे गिर पड़ते हैं। राम की आँखों में आँसू आना कैसी असाधारण घटना है.....।[१] यहीं पर कवि को हनुमान् की शक्ति को दिखाने का मौका मिल जाता है। अपने स्वामी राम की आँखों में आँसू की कल्पना तक हनुमान् नहीं कर सकते थे। उनके रहते राम आँसू बहाएँ, यह उनके लिए शर्म की बात थी। हनुमान् की शक्ति के मूल में राम की शक्ति है। लेकिन राम की शक्ति-पूजा में जैसे ही राम विचलित होते हैं, हनुमान अपनी शक्ति का प्रयोग करते हैं। वे दुर्गा के निवास स्थान आकाश को निगलने के लिए चल पड़ते हैं। चारों ओर प्रलय मच जाता है—

शत घूर्णावर्त, तरंग-भंग, उठते पहाड़,
जल-राशि, राशि-जल पर चढ़ता खाता पछाड़,
तोड़ता बंध-प्रतिसंध धरा, हो स्फीत वक्ष,
दिग्विजय अर्थ प्रतिपल समर्थ बढ़ता समक्ष।[२]

हनुमान् की शक्ति सर्वोपरि है, लेकिन कविता में इस शक्ति को स्वीकृति नहीं दी गई है, क्योंकि यह शक्ति सर्जनात्मक नहीं विध्वंसात्मक है। इससे संपूर्ण जीव-जगत् के विनाश का खतरा है। हनुमान् की शक्ति में आत्मविश्वास, दृढ़ता और सबको पराजित करने की क्षमता भले ही हो लेकिन बुद्धि-तत्त्व के अभाव में वह दिशाहीन हो जाती है। महानाश का आभास पाते ही शिव बेचैन हो जाते हैं इसलिए वे शक्ति (दुर्गा) को सलाह देते हैं कि बुद्धि से काम लेने पर ही हनुमान् की शक्ति को रोका जा सकता है। हनुमान् की शक्ति से विजय प्राप्त करना कविता में अभीष्ट नहीं है, क्योंकि इससे राम के नायकत्व पर खतरा आ जाने की आशंका है। किसी दूसरे की चमत्कारिक शक्ति की अपेक्षा खुद की साधना से प्राप्त शक्ति श्रेष्ठ होती है। कवि का लक्ष्य यह है कि राम अर्थात् भारत के एक-एक व्यक्ति को साधना की जरूरत है, तभी संघर्ष में विजय की प्राप्ति हो सकती है।

'राम की शक्ति-पूजा' में राम संघर्ष के कठिनतम क्षणों में भी अपना धैर्य नहीं खोते। वे अपनी आँखों से सिर्फ दो बूंद आँसू गिराकर अन्दर की पीड़ा को अभिव्यक्त करते हैं। इससे अधिक आँसू का गिरना उनके चरित्र की

---

१. निराला की साहित्य-साधना—डॉ० रामविलास शर्मा, पृ० २४१
२. अपरा (राम की शक्ति-पूजा)—निराला

कमजोरी होती। राम धैर्य की परीक्षा में खरे उतरते हैं, क्योंकि जब धैर्य बचा रहता है तभी बुद्धि भी काम करती है। इससे सही निर्णय लेने में मदद मिलती है। चूँकि पीड़ा का अहसास दूसरों को कराना है, इसलिए आँसू की दो बूंदें गिरती हैं। यहाँ भी पीड़ा की गहनता है। पर्याप्त मात्रा में यदि आँसू गिर जाते तो राम की पीड़ा कम हो जाती। गम्भीर-से-गम्भीर परिस्थिति में जब आदमी जी भर रो लेता है तो परिस्थिति की गम्भीरता की अनुभूति हल्की हो जाती है। लेकिन राम के साथ ऐसा नहीं हो पाता, क्योंकि जब वे ही साहस छोड़ देंगे तो बाकी सेना का क्या होगा? यहाँ राम अपने अन्दर की शक्ति से संघर्ष कर रहे हैं। पीड़ा को अन्दर ही अन्दर पी लेते हैं, क्योंकि वे अपने उत्तरदायित्व के प्रति सचेत हैं। डॉ० शिवप्रसाद सिंह ने लिखा है कि "सचेत व्यक्ति संकट और संत्रास का सारा अर्थ जानना चाहता है, क्योंकि यह बुद्धिशील होने का स्वाभाविक परिणाम है और जो जितना ही अधिक सचेत होता है, संत्रास की पीड़ा का उसे उतना ही अधिक भोग भोगना पड़ता है, यानी सचेत होने की यही नियति है।"[1]

राम की पीड़ा, निराला की व्यक्तिगत पीड़ा भी है। यह जन-जन की पीड़ा है। अपनी आँखों के आँसुओं के साथ राम साधारण मनुष्य के रूप में दिखाई देते हैं। राम के विचलित होने का कारण यह भी है कि उनके मन में अपने प्रति सन्देह है। सीता ने राम से प्रेम किया था, जो विश्वास से परिपूर्ण था। राम ने भी सीता से प्रेम कर और धनुष तोड़कर सीता के विश्वास की पुष्टि की थी। पराजय के कारण सीता का वह विश्वास खुद राम को टूटता हुआ-सा दिखाई देता है। जैसे उसके लिए दोषी राम ही हैं। राम को अपनी विजय के प्रति तो संदेह है ही, खुद उन्हें अपना व्यक्तित्व संदेहास्पद लग रहा है। इसकी अभिव्यक्ति कविता में कई जगह हुई है—

स्थिर राघवेन्द्र को हिला रहा फिर-फिर संशय,
रह-रह उठता जग जीवन में रावण जय-भय;

× × ×

कल लड़ने को हो रहा विकल वह बार-बार,
असमर्थ मानता मन उद्यत हो हार-हार;

× × ×

१. आधुनिक परिवेश और नवलेखन : डॉ० शिवप्रसाद सिंह, पृ० ७५।

लख शंकाकुल हो गए अतुल बल शेष शयन,
खिच गए दृगों में सीता के राम-मय-नयन।[1]

लगता है, राम अन्दर से इतने टूट चुके हैं कि विजय के प्रति संदेह वरावर उनके मन में बना रहता है। यह राम के चरित्र की कमजोरी है। यही कमजोरी दिखाकर निराला राम के चरित्र की स्वाभाविकता का निर्वाह करने में सफल हैं। यही कमजोरी राम को देवता या ब्रह्म बनने से रोकती है और इसीलिए राम हमारे ज्यादा करीब हैं।

संशय और निराशा के बावजूद निरालाजी ने राम को पुनः युद्धभूमि में उतारने के लिए दो तरीके अपनाए हैं। एक तो बार-बार सीता की याद दिलाकर और दूसरा विभीषण की फटकार द्वारा। लेकिन दोनों स्थितियों में एक चीज अवश्य दिखाई देती है और वह है सीता की मूर्ति''''खिच गए दृगों में सीता के राम-मय-नयन", यहाँ राम के नेत्रों में सीता के वे नेत्र समाए हुए हैं, जिनमें सीता ने राम को बसाया है। एक तरह से राम अपने नेत्रों से खुद की छवि देखते हैं। उनके मन में ग्लानि हो रही है कि सीता ने मुझ पर कितना विश्वास किया था और मेरे रहते उसकी क्या स्थिति हो गई है। युद्ध से मुँह मोड़ना सीता को धोखा देना है। इस प्रकार यहाँ भी सीता अनुपस्थित रहकर ही सही, राम को संघर्ष करने के लिए प्रेरित करती हैं। विभीषण जब राम को धिक्कारते हैं तो वे रावण के अत्याचार की बात करते हैं। रावण का अत्याचार सहने के लिए लंका में सीता अकेली हैं। इस प्रकार यहाँ भी केन्द्र में सीता हैं—

रावण, रावण, लम्पट, खल, कल्मष गताचार,
जिसने हित कहते किया मुझे पाद-प्रहार,
बैठा उपवन में देगा दुःख सीता को फिर,
कहता रण की जय-कथा पारिषद-दल से घिर,
सुनता वसंत में उपवन में कल-कूजित-पिक,
मैं बना किंतु लंकापति, धिक् राघव, धिक्-धिक्।[2]

ये सारी बातें राम को आत्मालोचना करने के लिए मजबूर करती हैं। फिर भी राम अपनी विजय के प्रति इतने शंकालु हैं कि फिर से युद्ध करने के लिए

१. अपरा (राम की शक्ति-पूजा) : निराला।
२. अपरा (राम की शक्ति-पूजा) : निराला।

जल्दी निर्णय नहीं ले पाते। निराशा और पराजय ने उनकी वाणी को ओज-रहित कर दिया है। बार-बार धिक्कारे जाने पर भी वे कहते हैं, "मित्रवर, विजय होगी न समर; जैसे बहुत सोच-विचार के बाद भी राम के मन में निराशा इतनी गहरी हो गई है कि युद्ध करने की हिम्मत वे नहीं जुटा पाते। कविता का उक्त अंश राम की लाचारी को व्यक्त करता है। लगता है, राम अन्दर ही अन्दर गंभीर विचारणा में लीन हैं, अन्दर ही अन्दर एक संघर्ष चल रहा है और उसका पता वे दूसरों को नहीं चलने देना चाहते। राम के सामने एक और बड़ी समस्या है कि उन्हें रावण नहीं, दुर्गा से लड़ना है। यह आश्चर्य है कि दुर्गा या शक्ति अन्याय की पक्षधर हैं। इसका कारण वे नहीं समझ पाते। जब भी युद्ध के मैदान में रावण की पक्षधर होकर शक्ति लड़ती हुई याद आती हैं, राम रो पड़ते हैं—

"अन्याय जिधर, हैं उधर शक्ति" कहते छल-छल
हो गए नयन, कुछ बूँद पुनः ढलके दृग जल।[1]

कविता में राम की आँखों में जब भी आँसू दिखाई पड़ते हैं, उसका कारण है—दुर्गा या शक्ति। शक्ति की करतूतों से राम अत्यन्त खिन्न हैं। शक्ति पर उनका कोई वश नहीं, क्योंकि रावण ने शक्ति की साधना की है। त्याग और तपस्या के द्वारा उसने शक्ति अर्जित की है। शक्ति भी उसके वश में रहने के लिए विवश हैं। डॉ० रामविलास शर्मा ने अन्याय और शक्ति का अर्थ व्यापक परिवेश में लिया है। अन्याय का रास्ता ब्रिटिश साम्राज्यवाद का था और न्याय का रास्ता भारतीय जनता का। दोनों में संघर्ष चल रहा था। न्याय अन्याय के सामने कमजोर साबित हो रहा था। शक्ति उसके साथ थी जो अत्याचारी था। आज भी शक्ति उसी की पक्षधर है जो अन्यायी है। साम्राज्य-वाद, पूंजीवाद की विजय हो रही है। उसे परास्त करने के लिए जन-जन को साधना की जरूरत है। त्याग, आत्मबलिदान और तपस्या की जरूरत है, तभी शक्ति को अपने वश में किया जा सकता है। शक्ति कहीं बाहर से नहीं आएगी। शक्ति भारत की जनता में ही है। आवश्यकता है, उस शक्ति की पहचान करने की और उसका उपयोग करने की। यहाँ कविता में राम पराजित हो रहे हैं, व्यक्तिगत जीवन में निराला पराजित हो रहे थे और अपनी आजादी की लड़ाई में भारत-भूमि में भारतीय जनता विजय से वंचित थी। निराला,

---

१. अपरा (राम की शक्ति-पूजा) : निराला।

राम और जनता तीनों की स्थिति समान है। न्याय के लिए तीनों संघर्ष-रत हैं, किन्तु संघर्ष में मिलनेवाली पराजय से हाथ पर हाथ धरकर बैठने से काम चलनेवाला नहीं है। यह पराजय क्षणिक है। यह निराशा और संदेह के कारण है। इस क्षणिक पराजय से भी नयी ऊर्जा, नयी स्फूर्ति प्राप्त की जा सकती है। निरालाजी की यह कविता हर भारतवासी को आत्ममंथन करने के लिए प्रेरित करती है, परिस्थितियों पर गहन विचार करने के लिए दबाव डालती है और शक्ति को अपने पक्ष में करने के लिए उकसाती है; क्योंकि मौलिक शक्ति के द्वारा ही रावणरूप आज के जालिमों को परास्त किया जा सकता है, जो वर्षों से जनता पर शोषण का चक्र चला रहे हैं।

मौलिक शक्ति को प्राप्त करना भी अपने-आपमें एक कठिन कार्य है। इसके लिए भी संघर्ष की जरूरत है। संघर्ष से पराजय ही नहीं; शक्ति भी मिलती है। राम युद्ध के मैदान में अपने वाणों से रावण पर वार-बार प्रहार करते हैं, लेकिन शक्ति स्वयं उन वाणों के तेज को समाप्त कर देती हैं। रावण के लिए शक्ति सुरक्षा-कवच वनी हुई हैं। शक्ति स्वयं राम से लड़ती हैं। राम जो भी वार कर रहे हैं, वे रावण तक पहुँच ही नहीं पाते। राम चिंतित हैं कि शक्ति के साथ कैसे लड़ा जाय? अस्त्र-शस्त्र से शक्ति वश में नहीं हो सकतीं। शक्ति को वश में करने के लिए पूजा की जरूरत है। डॉ० रामविलास शर्मा ने लिखा है कि "निराला की कविता में जव राम परास्त होते हैं; स्वयं को धिक्कारते हैं, सीता का उद्धार, विभीषण का राजतिलक असम्भव स्वप्न-सा लगता है; तव वह विजय-प्राप्ति के लिए दुर्गा की ही पूजा करते हैं।........ जाम्ववान् की सलाह है—शक्ति की करो मौलिक कल्पना। यह मौलिक कल्पना रावण के पास नहीं है; राम अपनी मौलिक कल्पना से उसकी पारम्परिक साधना को व्यर्थ कर देंगे।"[१] शक्ति की मौलिक कल्पना में भारत का नक्शा है। भूधर, सिंधु, दसों दिशाएँ और शिव सभी मौलिक शक्ति के अन्तर्गत हैं। ये सभी भारत के अन्तर्गत भी हैं और सवसे बड़ा असुर जिसे नष्ट करना है वह मानव के मन में है। राम की शक्ति का यही स्वरूप है। यह शक्ति कल्याणस्वरूपा हैं। शिव (कल्याण) करना इनका धर्म है। ये न्याय की पक्षधर हैं। हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'शिव' को शक्ति से युक्त माना है। 'शिव' का इकार स्त्री अर्थात् शक्ति का प्रतीक है। इसके अभाव में शिव शव

---

१. निराला की साहित्य-साधना : डॉ० रामविलास शर्मा, पृ० १४६-४७।

हो जाएगा, जड़ हो जाएगा। डॉ० रामविलास शर्मा के अनुसार "शक्ति से युक्त होने पर ही शिव कुछ करने में समर्थ होते हैं, वरना अकेले उनमें स्पन्दन भी नहीं होता। शक्ति ही ज्ञान है, उसके विना संसार का अज्ञानी मन शव जैसा है ओर शिव इसी शव जैसे हैं। शक्ति के विना शिव में जीवन का स्पन्दन भी नहीं है।"[१]

इसी शक्ति की साधना के लिए राम युद्ध छोड़कर आसन ग्रहण करते हैं। आठ दिन की पूजा निर्विघ्न संपन्न होने को हैं। राम को लगता है कि विजय अव करीव है। निराशा अब पूर्ण रूप से खत्म हो गई है। निराशा और संदेह का स्थान आशा और उत्साह ने ले लिया है। साधना पूरी करने के लिए वस, एक कमल का पुष्प शक्ति के लिए अर्पित करना है। साधना के अन्तिम क्षणों में कमल-पुष्प चुराकर शक्ति राम से छल करती है या मानो राम की परीक्षा लेती हैं। राम जैसे ही पुष्प चढ़ाने के लिए हाथ बढ़ाते हैं, कुछ न पाकर वेचैन हो उठते हैं। कविता के अन्तिम भाग में भी राम पूर्व की मनःस्थिति में लौट आते हैं। इस दृश्य का वर्णन कर जैसे निराला न्याय के लिए संघर्ष करनेवाले हर योद्धा को आगाह करते हैं कि लक्ष्य की प्राप्ति आसान नहीं है। उसके लिए पग-पग पर कठिनाइयाँ आती हैं। कोई भी क्षण निरापद नहीं है।

राम के लिए यह कठिन परीक्षा की घड़ी है। राम को लगता है कि इस बार यदि वे असफल हुए तो जानकी का उद्धार कभी नहीं हो सकता। अपनी विषम स्थिति का अनुमान कर राम की आँखें फिर भर आती हैं—

····देखा, यह रिक्त स्थान, यह जप का पूर्ण समय,
आसन छोड़ना असिद्धि, भर गए नयन द्वय[२]

यहाँ भी राम की आँखें सिर्फ भर आती है। राम रोते नहीं, विलाप नहीं करते। निरालाजी ने राम के चरित्र की गंभीरता को बरकरार रखा है। उसे हल्का नहीं होने दिया है। डॉ० शर्मा इसे भाव-सम्बन्धी तनाव कहते हैं। लेकिन इस बार आँखों का भर आना राम के मन में निराशा उत्पन्न नहीं करता। बार-बार की पराजय और संघर्ष की निरंतरता तथा शक्ति की पूजा ने राम को दृढ़ बना दिया है। वे अपने जीवन को भले ही धिक्कार लेते हैं लेकिन

१. वही : पृ० ५०८।
२. अपरा (राम की शक्ति-पूजा) : निराला।

निराशा को मन में स्थान नहीं देते। पूजा से उन्हें इतनी ऊर्जा प्राप्त हो गई है कि अब किसी भी परिस्थिति में उन्हें झुकना नहीं है—

धिक् जीवन को जो पाता ही आया विरोध,
धिक् साधन जिसके लिए सदा ही किया शोध,
जानकी! हाय उद्धार प्रिया का न हो सका,
वह एक और मन रहा राम का जो न थका,
जो नहीं जानता दैन्य, नहीं जानता विनय,[१]

राम की पीड़ा की यह चरम स्थिति है। यह कवि की पीड़ा की चरम स्थिति है। सन् '३५-३६ का जमाना भी ब्रिटिश शासन के घोरतम अत्याचार का जमाना था और उस अत्याचार की पीड़ा को जनता झेल रही थी। राम की पीड़ा के माध्यम से निराला ने अपनी और जनता की पीड़ा को अभिव्यक्ति दी है। सच्चा कलाकार यदि शासन के अत्याचार का वर्णन करना चाहे तो डॉ० शिवप्रसाद सिंह के अनुसार "....उसके लिए अनिवार्य होगा कि वह अत्याचारों से पीड़ित किसी-किसी एक व्यक्ति के माध्यम से अपने मन की संवेदना को व्यक्त करे और इस व्यक्तिगत पीड़ा को इस धरातल पर प्रस्तुत करे कि वह अपनी सांकेतिकता द्वारा इसे जन-जन की पीड़ा बना दे।"[२] निराला ने भी यही किया है। अपनी संवेदना को राम के माध्यम से व्यक्त कर उन्होंने उसे जन-जन की पीड़ा बना दिया है।

दुर्गा के द्वारा पुष्प चुरा ले जाना और राम की बेचैनी, यह राम के संघर्ष की उच्चभूमि है। राम के मन का द्वन्द्व भी यहाँ स्पष्ट है। एक तरफ पराजित मन है जो साधना के निष्फल हो जाने पर जीवन-संघर्ष से हार मान लेना चाहता है। किसी ने कहा है कि संघर्ष ही जीवन है, लेकिन लम्बे अरसे तक का संघर्ष आदमी को तोड़ देता है। संघर्ष और लगातार मिलने वाले पराजय ने राम को तोड़ दिया है, इसलिए वे अपने संपूर्ण जीवन को धिक्कारते हैं। उन्हें अपना जीवन व्यर्थ लग रहा है कि उन्होंने अपनी प्रियतमा जानकी का उद्धार नहीं किया। इस पराजित मन के बावजूद राम विवेक से काम लेते हैं। बार-बार स्वयं का धिक्कार और आत्मग्लानि राम के विवेक और शक्ति को जाग्रत करने में सहायक होते हैं। राम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मन से निराशा और

---

१. अपरा (राम की शक्ति-पूजा) : निराला।
२. आधुनिक परिवेश और नवलेखन : डॉ० शिवप्रसाद सिंह, पृ० ७१।

दीनता जैसे भावों को दूर कर दृढ़ निश्चय के साथ संघर्ष करने में ही सफलता है। इस सफलता के लिए त्याग और बलिदान की आवश्यकता है। राम एक हाथ अपनी आँख पर रखते हैं और दूसरा तीर पर। आँख पर हाथ रखना यानी हाथ से आँख को पकड़े रहना विशेष अर्थ का सूचक है—

ले अस्त्र वाम कर, दक्षिण कर दक्षिण लोचन,
ले अर्पित करने को उद्यत हो गए सुमन,[1]

राम को अभी भी आशंका है कि आँख के रूप में जो कमल का पुष्प उनके पास सुरक्षित है, कहीं उसे भी अर्पित करने से वे चूक न जायें। इसलिए एक हाथ से वे आँख को पकड़े रहते हैं। यह उनके विवेक और दृढ़ निश्चय का प्रतीक है। आँख को अर्पित करने के लिए उद्यत होना राम के त्याग और साहस का प्रतीक है। इसी महान् त्याग और दृढ़ निश्चय के कारण आसुरी प्रवृत्ति के विरुद्ध संघर्ष में राम विजयी होते हैं। यह राम की साधना का परिणाम है। साधना के बल पर जैसे शक्ति पर वे विजय प्राप्त करते हैं। डॉ० रामविलास शर्मा के अनुसार "………राम अपनी साधना से दुर्गा को अपने वश में करते हैं। रावण पर विजय पाने के लिए दुर्गा की अनुमति नहीं माँगते, उन्हें रावण का साथ छोड़कर अपनी ओर आने को बाध्य करते हैं। कृत्तिवास में दुर्गा अंतर्धान होती हैं; निराला उन्हें राम के वदन में लीन कर देते हैं।………शक्ति की उपयोगिता—निराला के लिए—उसे आत्मस्थ करने में है, अपने से अलग रखते हुए उसकी वंदना करने में नहीं है।"[2]

'राम की शक्ति-पूजा' में अन्ततः राम की विजय के द्वारा निराला यह संदेश देते हैं कि हो सकता है मानव-मुक्ति के संघर्ष में हमें बार-बार पराजय का सामना करना पड़े लेकिन उस क्षणिक पराजय में भी त्याग, बलिदान और धैर्य के बल पर सात्त्विक प्रवृत्तियाँ अपनी विजय सुनिश्चित करेंगी। ●

---

१. अपरा (राम की शक्ति-पूजा) : निराला।

२. निराला की साहित्य-साधना : डॉ० रामविलास शर्मा, पृ० ५३१।

धूमिल की काव्ययात्रा : वैचारिक दिशा का सवाल

—डॉ० अवधेश प्रधान

आज कविता के लिए राजनीतिक विचारधारा की जरूरत समझाते हुए कवि धूमिल ने लिखा था—"युवा लेखन के लिए राजनीतिक समझदारी जरूरी है। बिना इस राजनीतिक समझदारी के आज का लेखन संभव नहीं।"[१] जाहिर है कि धूमिल की कविता के अध्ययन और विश्लेषण के लिए उनकी राजनीतिक समझदारी की जाँच-पड़ताड़ बहुत जरूरी है। धूमिल की कविता और राजनीतिक विचारधारा के बीच क्या सम्बन्ध है, उनकी राजनीतिक विचारधारा का क्या स्वरूप है, उनकी कविता के विकास में उनकी राजनीतिक विचारधारा की क्या भूमिका है, उनकी विचारधारा का विकास किस दिशा में हुआ है—इन प्रश्नों की तह में जाना जरूरी है, ताकि धूमिल काव्य-यात्रा की सही दिशा पहचानी जा सके।

इस सिलसिले में तमाम पाठकों और आलोचकों की राय एक जैसी नहीं है। जहाँ एक ओर कुछ उत्साही पाठक धूमिल को सर्वत्र निर्दोष, सर्वगुणसम्पन्न, पूर्णपरिपक्व क्रांतिकारी महाकवि के रूप में देखते हैं, वहीं कुछ विद्वान आलोचक उसे साठोत्तरी दिशाहीन विद्रोह के अराजकतावादी खेमे में खड़ा कर देते हैं। मनमानी मान्यताएँ हावी हो जाती हैं और द्वन्द्ववाद दबा दिया जाता है। नेमिचन्द्र जैन की राय है कि "धूमिल की कविता आजादी के बाद होश सम्हालनेवाले एक संवेदनशील नौजवान की अपने देश और समाज और उसमें आदमी की विसंगतिपूर्ण हालत को समझने-पहचानने की कोशिश को जाहिर करती है।"[२] वे मानते हैं कि "धूमिल की कविता का मुख्य स्वर भंडाफोड़ और उससे पैदा होनेवाली नफरत का ही है।"[३] उन्होंने मालूम किया कि "संभवतः पिछले दिनों धूमिल अधिक उग्रवादी राजनैतिक विचारधारा की ओर मुड़ते जा रहे थे।"[४] इसका अनुमान उन्होंने नक्सलपंथी आन्दोलन के

---

१. कल सुनना मुझे : युगबोध प्रकाशन, वाराणसी १९७७।

२. पूर्वग्रह, अंक ७, मार्च-अप्रैल १९७५, भोपाल।

३. वही। ४. वही।

बारे में धूमिल के "बदलते हुए रुख" से लगाया। लेकिन इस बदलते हुए रुख के बारे में खुद नेमि जी का रुख काबिले-गौर है—"धूमिल की हमदर्दी की यह दिशा अन्ततः विरोध और भण्डाफोड़ की राजनीति की बड़ी स्वाभाविक परिणति है और उनके जीवन 'विजन' की व्यापकता या सूक्ष्मता या उसकी अधिक पुष्टता को नहीं सूचित करती।"[१] फिर भी नेमि बाबू धूमिल से पूरी तरह निराश नहीं होते और वक्त की ताकत पर भरोसा रखते हुए अनुमान करते हैं कि "यह असंभव नहीं था कि वे वक्त के साथ स्पष्ट जीवनदृष्टि और वैचारिक पृष्ठभूमि भी हासिल कर लेते और इस प्रकार एक अत्यन्त सक्षम और समृद्ध काव्य जगत की रचना करने में सफल होते हैं।"[२]

डॉ० काशीनाथ सिंह धूमिल के जीवन, व्यक्तित्व, मनोभूमि और रचना प्रक्रिया की और भी गहरी छानबीन में उतरते हैं और पाते हैं कि "वह पूंजीवादी शोषण के भी खिलाफ है, मध्यवर्ग के भी और जनता के भी। उसका कोई भी हमदर्द नहीं है, इसलिए कि उसकी किसी के साथ हमदर्दी नहीं है।"[३] उनकी दृष्टि में धूमिल पक्का अराजकतावादी है, उसके लिए एक ओर "अप-धियों का संयुक्त परिवार" है जिसमें डॉक्टर हैं, वकील हैं, कवि हैं, पत्रकार और कलाकार हैं और दूसरी ओर है जनता जो भेड़ है, दलदल है, जंगल है, पेड़ है। उसे उम्मीद सिर्फ कविता से है—"विपक्ष में सिर्फ कविता है।" लेकिन कवि भी उसी संयुक्त परिवार का सदस्य है इसलिए "अन्त में वह अकेला रह जाता है, ऊब के निर्मम अकेले और अनमने क्षण जीने लगता है, उसके चारों तरफ उचाट और फूंकता हुआ सन्नाटा रह जाता है और उसे लगने लगता है कि सारा देश उसका कारागार है वैसे ही जैसे पहले था। जब सुनने वाले न रह जायें तो बोलने वाले की जबान अपने आप बन्द हो जाती है। मुमकिन है, यही कारण हो कि धूमिल ने '७१ ई० के बाद कम — बहुत कम लिखा! उसकी भाषा चुप रहने लगी।"[४] इस प्रकार धूमिल के बड़ बोले अराजकतावाद की परिणति चुप्पा शून्यवाद में हुई। लेकिन डॉ० काशीनाथ सिंह को धूमिल की विचारधारा के इस खतरनाक विकास क्रम से फासिज्म के

---

१. पूर्वग्रह : अंक ७, मार्च अप्रैल १९७५, भोपाल।

२. वही।

३. आलोचना : धूमिल अंक, अप्रैल-जून १९७५।

४. वही।

उभार की भी आशंका होती है—"इसलिए धूमिल जब 'अपनी कविताओं के लिए दूसरे प्रजातंत्र की तलाश' करता है तो हमें डर लगता है कि जाने इस दूसरे प्रजातन्त्र से उसकी क्या मुराद हो।"[१] जाहिर है, इस विश्लेषण के मुताबिक धूमिल की कवितायात्रा की दिशा अराजकतावादी है और उसकी परिणति फसिज्म में भी हो सकती है।

धूमिल की काव्ययात्रा तीन चरणों से गुजरती है। १९६० से ६६ तक का काल पहला चरण है, जिसमें वे तुकवंदियों और रूमानी गीतों से लेकर भूखी पीढ़ी, श्मशानी पीढ़ी, सूर्योदयी कविता आदि साठोत्तरी काव्यप्रवृतियों की राह से गुजरते हैं और १९६७ के सर्वाधिक उग्र, घनीभूत, तीखे मोड़ पर आ खड़े होते हैं। १९६७ से ७० तक का काल दूसरा चरण है, जिसमें वे अपनी तमाम विख्यात और चर्चित लम्बी कवितायें रचते हैं, जिनका संग्रह 'संसद से सड़क तक' में हुआ और १९७१ से १० फरवरी ७५ तक का काल तीसरा चरण है, जिसमें वे अपनी रचनाशीलता को और भी अधिक सही दिशा देने में सचेत रूप से तत्पर होते हैं। धूमिल की काव्ययात्रा के सही दिशानिर्धारण के लिए आवश्यक है कि उनकी कविताओं को कालक्रम से पढ़ते हुए युगीन संदर्भों, रचनाओं और विचारों के क्रमिक और संश्लिष्ट विकास को रेखांकित किया जाय।

यद्यपि धूमिल की पहले चरण की कविताओं में भी जनता के प्रति सहानुभूति, व्यवस्था के विरुद्ध आक्रोश और मानवमूल्यों की गिरावट के प्रति खीझ दिखाई पड़ती है, साथ ही उनमें साठोत्तरी असंतोष और आक्रोश के स्वर और 'जीभ और जाँघ के चालू भूगोल' के मुहावरे वहुतायत से हैं और उनमें अस्तित्ववादी चिंतन की असंगतियाँ भी साफ देखी जा सकती हैं, लेकिन दूसरे चरण के आते-आते जैसे दुनिया ही बदल जाती है : व्यवस्था के विरुद्ध अमूर्त आक्रोश की जगह शासकवर्ग के खिलाफ स्पष्ट विरोध मुखर हो उठता है, पक्ष और विपक्ष की पार्टियों के अवसरवाद और चालाकी का पर्दाफाश होता है, चुनाव के धोखे की टट्टी टूटने लगती है; 'आजादी', 'जनतंत्र', 'संसद' और 'समाजवाद' का असली चेहरा दिखाई पड़ने लगता है, कवि अपने पिछले काव्यानुभवों की समीक्षा करता है और नए युगबोध की संगति में कविता का नया अर्थ पाने की दिशा में कदम उठाता है। आलोचकगण धूमिल की इस

१. आलोचना : धूमिल अंक, अप्रैल-जून १९७५।

दौर की आश्चर्यजनक 'ऊर्जा', 'आवेग' और 'दबंग व्यंग्य' पर चौंक उठते हैं, लेकिन इसके पीछे काम करनेवाली मुख्य प्रेरक शक्ति का विश्लेषण नहीं करते, बल्कि अक्सर तो उसे जानबूझकर दबा देते हैं। यह वैसे ही है जैसे भक्तिकाव्य के विश्लेषण में भक्ति आंदोलन की पृष्ठभूमि को या भारतेन्दुयुगीन नवजागरण में '५७ की क्रांति की भूमिका को छोड़ देना। १९६७ के मोड़ पर केवल धूमिल की कविता ही नहीं, पूरा भारत बदल रहा था। यह जबर्दस्त बदलाव लानेवाली शक्ति थी—नक्सलवाड़ी का किसान-विद्रोह। इसके प्रभाव से साहित्यिक क्षेत्र में होनेवाले ऐतिहासिक परिवर्तन को रेखांकित करते हुए डॉ० नामवर सिंह बतलाते हैं, "सन् '६७ के बाद सही है कि एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुआ और आक्रोश को एक स्पष्ट राजनीतिक दिशा मिली, जिसका सम्बंध नक्सलवाड़ी आंदोलन से है।·······दिशाहीन व्यवस्था-विरोध का अन्त हो गया और स्पष्ट राजनीतिक चेतना आई।·····उस आंदोलन के दौरान नगरोन्मुख हिंदी साहित्य ग्रामोन्मुख किया गया, जो बहुत बड़ी देन है। '६७–६८ के बाद यह तो कम से कम हुआ ही कि ऐसे क्षुब्ध, जीवंत और जागरूक लेखकों को अपनी जमीन, अपने ग्रामीण समाज की याद आई और यहीं से साहित्य निश्चित रूप से एक नया मोड़ लेता नजर आता है।"[1] '६७ के बाद के हिंदी साहित्य और खासकर धूमिल की कविता का अध्ययन करते हुए इस नये मोड़ को ध्यान में रखना बेहद जरूरी है। इसके बिना न तो धूमिल की विचारधारा को समझा जा सकता है और न तो उनकी कविताओं की ऊर्जा, आवेग और दबंग व्यंग्य को।

नक्सलवाड़ी के किसान-विद्रोह से पहले युवा हिन्दी कविता में साठोत्तरी विद्रोह—अकवितावादी विद्रोह चल रहा था। उसके एक सूत्रधार थे राजकमल चौधरी। इस ऐतिहासिक मोड़ पर पहुँचकर वे भी बदल रहे थे। उनकी मृत्यु पर लिखी कविता में धूमिल ने इसकी ओर इशारा किया है—"अंधेरे घाटों पर बँधी हुई नावों को / अदृश्य द्वीपों की ओर खोलकर / कल उसे लोगों ने / गाँव की तरफ जाते हुए देखा था।" राजकमल चौधरी ने समूचे साठोत्तरी विद्रोह को यहाँ पहुँचकर गलत पाया; जिसे 'जहाजी बेड़ों का बंदरगाह' समझा था वह 'अंधेरे बंद कमरे' का भ्रम निकला—"पूरा का पूरा यह युद्धकाव्य / मैंने गलत जिया है / गलत किया है मैंने इस / कमरे को समझकर / जहाजी बेड़ों का

१. परिवेश : सं०। कुमारसम्भव, आपातकालोत्तर अंक।

बंदरगाह।" राजकमल चौधरी का मरना धूमिल को 'जीने का सही कारण देता है।' वह नए युग संदर्भों में पिछले अनुभवों की पड़ताल करता है। नक्सलवाड़ी में राजनीति के सामने ही नहीं, कविता के सामने भी एक चुनौती खड़ी कर दी थी। कवि धूमिल युग की नई चुनौतियों के सामने तैयार होने का संकल्प करता है।

१९६७ के इस ऐतिहासिक मोड़ के प्रति धूमिल के रुख की, पिछले मोह और वर्तमान मोहभंग की, नए परिवर्तन की प्रक्रिया, युगबोध, अन्तर्विरोध और आत्मसंघर्ष की एकत्र अभिव्यक्ति है—'पटकथा'। कविता की शुरूआत आजादी के उल्लास, उत्साह और मोह से होती है। "मैंने कहा—आजादी / और दौड़ता हुआ खेतों की ओर / गया।" वहाँ कतार के कतार फूटते अनाज के अंकुए देखकर कहा—"जैसे कसरत करते हुए बच्चे।" तारों पर चहचहाती चिड़ियाँ देखकर कहा—"काँसे की बजती हुई घंटियाँ" आदि। फिर "मैंने इन्तजार किया" इन उम्मीदों के साथ कि अब कोई बच्चा भूखे पेट स्कूल नहीं जाएगा, कोई मकान बरसात में नहीं टपकेगा, कोई नंगा नहीं रहेगा, कोई दवा के अभाव में नहीं मरेगा, कोई किसी की रोटी नहीं छीनेगा। इन्तजार चलता रहता है। जनतंत्र, त्याग, स्वतंत्रता, संस्कृति, शांति, मनुष्यता जैसे वादे और इरादे सुनाई पड़ते रहते हैं। मतदान होते रहते हैं "और मैं अपनी सम्मोहित बुद्धि के नीचे / उसी लोकनायक को / बार बार चुनता रहा / जिसके पास हर शंका और सवाल का / एक ही जवाब था / यानी कि कोट के बटनहोल में / महकता हुआ एक फूल / गुलाब का।" नेहरूकाल के सपने और विभ्रम सहसा टूटते हैं भारतीय युद्ध से। "युद्ध की आग से पिघलती हुई बर्फ में" सारा धीरज बह गया। कवि अचरज से देखता है "दुनिया का सबसे बड़ा बौद्धमठ" बारूद का सबसे बड़ा गोदाम बन गया है। हिमालय से हिन्द महासागर तक जली हुई मिट्टी का ढेर फैला हुआ है और जनता की स्थिति भी बेहद निराशाजनक है। जनता तो "कुहरा और कीचड़ और काँच से बना हुआ है" सिर्फ एक शब्द मालूम पड़ता है। जनता "एक भेड़ है / जो दूसरों की ठंड के लिए / अपनी पीठ पर ऊन की फसल ढो रही है / ऐक पेड़ है / जो ढलान पर / हर आती जाती हवा की जुबान में / हाँ हाँ करता है / क्योंकि अपनी हरियाली से / डरता है।" जनता "गाँवों में गंदे पनालों से लेकर शहर के शिवालों तक" फैली हुई—"कथकलि की एक अमूर्त मुद्रा" है। जनतंत्र में उसकी अटूट आस्था है और वह अभी नहीं जानती कि "अपने यहाँ जनतंत्र / एक ऐसा तमाशा है /

जिसकी जान मदारी की भाषा है।" जनता की इस पिछड़ी हुई चेतना से कवि टकराता है, खीझता है, तरस खाता है। 'प्रौढ़ शिक्षा' में धूमिल ने उसे झकझोरते हुए कहा था—"हर हाथ में / गीली मिट्टी की तरह हाँ हाँ मत करो / तनो / अकड़ो / अमरवेलि की तरह मत जियो / जड़ पकड़ो / बदलो / अपने आप को बदलो / यह दुनिया बदल रही है........।" 'पटकथा' की उपर्युक्त पंक्तियों में भी पिछड़ी हुई जनता की ही तस्वीरें हैं, समस्त भारतीय जनता का समग्र चित्र नहीं। इसीलिए कवि को अपने तमाम विश्लेषणों और निष्कर्षों से संतोष नहीं होता। वह साफ-साफ देख नहीं पा रहा क्योंकि "हर तरफ धुँआ है / हर तरफ कुहरा है।" इसीलिए वह सोचता रहता है, घूमता रहता है, टूटी हुई चीजों के ढेर में आजादी का अर्थ ढूँढ़ता रहता है और "देश के इस छोर से उस छोर तक / उसी लोक चेतना को / बार-बार टेरता रहा / जो मुझे दुबारा जी सके / जो मुझे शांति दे / और मेरे भीतर-बाहर का जहर खुद पी सके।" तभी पश्चिमी सीमांत सुलग उठता है। यह १९६५ का भारत पाकिस्तान युद्ध है। फिर "अपने इतिहास की सबसे बड़ी ट्रैजेडी" झेलनी पड़ती है—"ताशकंद में / समझौते की सफेद चादर के नीचे / एक शांतियात्री की लाश........।" इन दो युद्धों के अनुभव कवि को झटका देते हैं, लेकिन देश की दुर्दशा, जनता की बदहाली या शासक वर्ग के शोषणतन्त्र के बारे में कोई नई समझ नहीं हासिल होती। वह देश के कंकालों और अनाज गोदामों की ओर नजर फिराता है—"वहाँ बंजर मैदान / कंकालों की नुमाइश कर रहे थे / गोदाम अनाज से भरे पड़े थे और लोग / भूखों मर रहे थे।" वह महसूस करता है—"मैं वक्त के / एक शर्मनाक दौर से गुजर रहा हूँ।" वह देखता है कि "इस जनतांत्रिक जंगलों में" हत्याओं के नीचे से असली खूनी हाथों के बदले हरे-हरे हाथ निकलते हैं और पेड़ों पर पत्तों की जुबान बनकर ऐसी भाषा बोलते हैं / जिसे सुनकर "नागरिकता की गोधूलि / घर लौटते हुए मुसाफिर / अपना रास्ता भटक जाते हैं।" उनकी धोखे में डालनेवाली इस भाषा ने सारी वस्तुस्थिति को उलट-पुलट दिया है, चीजों की पहचान कठिन हो गई है—"उनका व्याकरण / देश की / शिराओं में छिपे हुए कारकों का / हत्यारा है।" शासकवर्ग बेहद चालाक हो गया है। वह शोषण के साथ साथ उसे छिपाने के लिए बड़े पैमाने पर भ्रामक प्रचार भी करता है। "वे खेतों में भूख और शहरों में / अफवाहों के पुलिन्दे फेंकते हैं।" वे अपने खिलाफ उठने वाले विरोध का केवल दमन नहीं करते, बल्कि सुविधायें देकर, बहला-फुसलाकर

विरोध की नोक मार देते हैं—"वे जिसकी पीठ ठोंकते हैं / उसके रीढ़ की हड्डी गायब हो जाती है / वे मुसकराते हैं और / दूसरे की आँख में झपटती हुई प्रति-हिंसा / करवट वदलकर / सो जाती है।"

१९६७ के मोड़ पर भारतीय जनता में हर तरफ ऊव है, संशय है, नफरत है—"सारी चीजों को नए सिरे से वदलने की वेचैनी" है, रोष है, लेकिन "उसका गुस्सा / एक तथ्यहीन मिश्रण था / आग और आँसू और हाय का।" उस युग की वेचैनी, तड़प और चाहत को धूमिल ने इन पंक्तियों में वहुत कम शब्दों में वहुत अधिक स्पष्टता से व्यक्त किया है। अपनी तनावभरी चिंतनयात्रा के ठीक इसी मोड़ पर "नींद की असंख्य पर्तों में / डूबते हुए मैंने देखा / कि मेरी उलझनों के अँधेरे में / एक हमशक्ल खड़ा है। यह हमशक्ल है हिन्दुस्तान /" यह वात ध्यान देने लायक है कि कवि को अपने देश का वास्तविक साक्षात्कार युद्धों के झटकों के वाद नहीं, वल्कि वंजर मैदानों से लेकर 'जनतांत्रिक जंगल' की ठोस अनुभव यात्राओं के वाद होता है। हिन्दुस्तान कहता है—"इस दलदल से वाहर निकलो / सुनो / तुम चाहे जिसे चुनो / मगर इसे नहीं / इसे वदलो।" उसकी आवाज जलते हुए कुंए से आती लगती है। उसकी आवाज में "असंख्य नर्कों की घृणा भरी थी।" वह वादों और इरादों के तमाम भ्रमजाल में फँसी हुई उत्पीड़ित जनता को ही जैसे कोंचकर जगाते हुए पूछता है—"वह क्या जिसने तुम्हें / वर्वरों के सामने अदव से / रहना सिखलाया है।" वह अव तक की चली आती निराशा, असन्तोष और आक्रोश को जैसे यही दिशा देने का आह्वान करते हुए कहता है—"अव वक्त आ गया है कि तुम उठो / और अपनी ऊव को आकार दो।" यह ऐसा वक्त था जव समूची भारतीय जनता ऊव को आकार देना चाह रही थी। शासक वर्ग घनघोर संकट का सामना कर रहा था और युद्धकाल के नारे थिरा जाने के वाद उसके 'तिलिस्म का जादू' भी उतर रहा था। ऐसे में कवि जनता की विकासमान इच्छा और चेतना को गति देने में सहायता कर सकता है। हिन्दुस्तान कवि को उसकी सही भूमिका में खड़ा होने की प्रेरणा देता है—"इसलिए उगो और अपने भीतर / सोये हुए जंगल को / आवाज दो / उसे जगाओ और देखो / कि तुम अकेले नहीं हो / और न किसी के मुहताज हो / लाखों हैं जो तुम्हारे इंतजार में खड़े हैं / वहाँ चलो / उनका साथ दो / और इस तिलिस्म का जादू उतारने में / उनकी मदद करो।" इसी वीच कवि चौथे आम चुनाव के महत्वपूर्ण अनुभवों से गुजरता है। 'मतकर्षा के इस दादुर-शोर में' हर तरफ रंग-विरंगे झंडे फहरा रहे हैं, "गिरगिट की तरह

रंग बदलते हुए / गुट से गुट टकरा रहे हैं / वे एक दूसरे से दाँता किलकिल कर रहे हैं / एक दूसरे को दुरदुर बिलबिल कर रहे हैं / हर तरफ तरह तरह के जीव जन्तु हैं / श्रीमान् किन्तु है / मिस्टर परन्तु हैं""।" / वे एक दूसरे से नफरत करते हैं लेकिन एक बात पर सब सहमत हैं कि देश के तमाम रोगों का "एकमात्र इलाज चुनाव है।" कवि को लगता है, गोया विशाल दलदल के किनारे "बहुत बड़ा पशु पड़ा हुआ है / उसकी नाभि में घाव है" जिसमें भयानक बदबूदार मवाद बहने के साथ-साथ "जाति और धर्म और संप्रदाय और पेशा और पूँजी के असंख्य कीड़े बिलबिला रहे हैं।" और मतवर्षा के दादुरगण चुनाव को एकमात्र इलाज बता रहे हैं! कांग्रेस बहादुर ने सामन्तवाद को खत्म कर भारत का स्वाधीन पूंजीवादी विकास किया है—धूमिल ऐसा नहीं मानते। धूमिल की अनुभवी दृष्टि भारत के पैरों में पड़ी सामन्ती और पूंजीवादी बेड़ियों को देख लेती है। उसके घाव में जाति, धर्म, सम्प्रदाय के साथसाथ पूंजी के भी कीड़े बिलबिला रहे हैं। जनता का तमाम आम चुनावों का तजर्बा बतलाता है कि भारतीय समाज का क्रांतिकारी परिवर्तन महज चुनाव से सम्भव नहीं है। कवि यह सब देख रहा है कि एक नया रेला आता है—"उन्मत्त लोगों का बर्बर जुलूस" जो किसी आदमी को छीन रहा है, घसीट रहा है, पीट रहा है और उसकी जीभ बाहर लटक रही है। वह है "मेरा हमशक्ल" मूर्छित भारत। शायद यह नया रेला स्वतः स्फूर्त युवाविक्षोभ का है। हिन्दुस्तान की नजर में "भूख ने उन्हें जानवर कर दिया है" फिर भी वे 'अपने हैं, जीवित भविष्य के सुन्दरतम सपने हैं।" हिन्दुस्तान उन्हें सहानुभूति और सहयोग का पात्र समझता है, चाहता है कि उनके विद्रोह को सही दिशा और नेतृत्व मिले। उसे डर है, वे कहीं गलत नेतृत्व और दिशा में भटक न जायँ—"उनके साथ चलो / इससे पहले कि वे / गलत हाथों के हथियार हों / इससे पहले कि वे नारों और इश्तहारों से / काले बाजार हों / उनसे मिलो / उन्हें बदलो।" चौथे आम चुनाव के साथ ही कवि की नींद टूट जाती है। हर तरफ शोर है कि आजकल "एक खास परिवर्तन हुआ है और जनता जगी है।" कवि को भी लगता है कि उसने अपने भीतर—कहीं बहुत गहरे—'कुछ जलता हुआ-सा' छुआ है लेकिन वस्तुतः यह सब नींद में हुआ है। सच्चाई यह है कि "कुर्सियाँ वही हैं / सिर्फ टोपियाँ बदल गई हैं।" धूमिल ने विनोद भारद्वाज के नाम लिखे पत्र में चौथे आम चुनाव के बारे में लिखा था—"एक साथ कई बुत नंगे हुए हैं।"[1]

---

१. परिक्षेत्र : धूमिल विशेषांक, सं० विश्वनाथ प्रसाद, वाराणसी।

अवसरवादी विपक्षी दलों का एकमुश्त पर्दाफाश १९७७ में ही पहली बार नहीं हुआ, इससे पहले १९६७ के आम चुनाव में हो चुका था। जो लोग चौथे आम चुनाव को क्रांतिकारी ऐतिहासिक परिवर्तन मानते हैं, वे धूमिल की 'पटकथा' में उसकी असली तस्वीर देख कर अपना भ्रम दूर कर सकते हैं। धूमिल की नजर में चौथे आम चुनाव के जरिए कोई बुनियादी परिवर्तन नहीं हुआ, सिर्फ सत्ताधारियों के अन्दाज में कुछ सतही हेर-फेर हुआ—"इन दिनों / कुछ अर्जियाँ मंजूर हुई हैं / कुछ तबादले हुए हैं / कल तक जो नहले थे / दहले हुए हैं /""""इन दिनों / मंत्री जब प्रजा के सामने आता है / तो पहले से / कुछ ज्यादा मुसकराता है।" श्रीमान किन्तुओं और मिस्टर परन्तुओं की संविद सरकारों में सिर्फ ऊपरी बदलाव हुआ है, भारतीय समाज का मूलभूत ढाँचा जस का तस है। नये-नये नारे हैं, नये नये भाषण हैं, पर नीतियाँ वही, हैं। पानी की सतह पर हलचल ही हलचल है पर "कीचड़ खामोश है" दल-बदलू नेताओं के विरोध का नाटक भी सिर्फ दलदल पैदा करता है। उनका विरोध भी क्षणिक है जो सत्ता में अपना हिस्सा पाते ही शांतिपूर्ण सहयोग में बदल जाता है। कवि रोज देखता है कि "व्यवस्था की मशीन का / एक पुर्जा गरम होकर / अलग छिटक गया है और / ठंडा होते ही / फिर कुर्सी से चिपक गया है।" इससे खुद व्यवस्था की मशीन का कुछ नहीं बनता-बिगड़ता। एक-एक को परख लेने के बाद जनता इसी निष्कर्ष पर पहुँच रही थी—"नहीं—अपना कोई हमदर्द / यहाँ नही है।" 'नहीं' का अर्थ साफ है—इन चुनावबाज पार्टियों की दलदल में जनता का "अपना कोई हमदर्द" नहीं है। यह आम भारतीय जनता का अनुभव प्रसूत राजनीतिक बोध है। इसे धूमिल की व्यक्तिगत निराशा या अराजकता समझना भारी नासमझी है। व्यवस्था की मशीन से गरम होकर छिटकने और फिर ठंडा होते ही कुर्सी से चिपक जानेवाले "वे सब तिजोरियों के दुभाषिये" हैं। और वे अकेले नहीं हैं, उनके साथ उनका वैचारिक पक्षपोषण करनेवाले वकील, वैज्ञानिक, अध्यापक, नेता, दार्शनिक, लेखक, कवि और कलाकार हैं यानी "कानून की भाषा बोलता हुआ / अपराधियों का एक संयुक्त परिवार है।" कवि मुक्तिबोध ने 'अँधेरे में' कविता में इसी संयुक्त परिवार का रहस्योद्‌घाटन किया था। इसी बिन्दु पर पहुँचकर धूमिल देखते हैं कि शासक वर्ग ने अपने घृणित प्रतिक्रियावाद और वर्गस्वार्थ को छिपाने के लिए समाजवाद का आधुनिक मुहावरा बोलना शुरू कर दिया है। लेकिन यह समाजवाद केवल एक शब्द, महज एक खोल है, उसकी अन्त-

वस्तु ठीक उलटा है—"मेरे देश का समाजवाद / मालगोदाम में लटकती हुई / उन बाल्टियों की तरह है, जिन पर आग लिखा है / और उनमें बालू और पानी भरा है।" यहीं वे संसद के चरित्र पर भी सवाल उठाते हैं। क्या हमारी संसद वास्तविक संसद है ? अगर ऐसा है तो वहाँ "जिसने सत्य कह दिया है / उसका बुरा हाल क्यों है ?" इस सवाल का कतई यह मतलब नहीं है कि धूमिल जनतन्त्र-विरोधी हैं (जैसा कि कुछ आलोचक बतलाते हैं) धूमिल भारतीय जनता की वास्तविक संसद देखना चाहते हैं, जिसके बारे में यह कथन यथार्थतः सत्य हो—"संसद / देश की धड़कन / प्रतिबिंबित करनेवाला दर्पण है / जनता को / जनता के विचारों का / नैतिक समर्पण है।" चुनाव, पक्ष-विपक्ष, समाजवाद और संसद के रहस्योद्‌घाटन के साथ ही धूमिल जनता की ओर नजर दौड़ाते हैं। विशाल भारतीय जनता एक ही साथ दो स्तरों पर जी रही है : एक ओर 'भूख से फैली हुई हथेली' है और दूसरी ओर 'भूख में तनी हुई मुट्‌ठी है, एक ओर गदा है और दूसरी ओर नक्सलबाड़ी है—"यहाँ जनता एक गाड़ी है / एक ही संविधान के नीचे / भूख से रिरियाती हुई फैली हथेली का नाम / गदा है / और भूख में / तनी हुई मुट्‌ठी का नाम / नक्सलबाड़ी है।" 'भूख से रिरियाती हुई फैली हथेली' जनता की पिछड़ी हुई चेतना की मुद्रा है और 'भूख में तनी हुई मुट्‌ठी' आगे बढ़ी हुई चेतना की। यद्यपि नक्सलबाड़ी का विद्रोह संविधान के दायरे में नहीं हो रहा था जैसा कि इस कविता में बताया गया है—वह नई लोकसत्ता और नए संविधान के लिए कृत संकल्प था—लेकिन महत्त्व की बात यह है कि धूमिल इस कविता में उस युग की विकसिक जन-राजनीतिक चेतना को भी चिह्नित करते हैं।

फिर भी 'पटकथा' में धूमिल पूरी तरह आश्वस्त नहीं होते। वे जनतंत्र समाजवाद, संसद के बारे में अपने आप से सवाल करते रहते हैं, उनका कोई उत्तर उनके पास नहीं है, तब से "नींद और नींद के बीच का जंगल काटते हुए / मैंने कई रातें जागकर / गुजार दी हैं / हफ्तों पर हफ्ते तह किये हैं / ऊब के निर्मम अकेले और अनमने क्षण / जिए हैं।"—चारों तरफ अंधकार है, संशय है, सन्नाटा है। "घृणा में / डूबा हुआ सारा का सारा देश / पहले की तरह आज भी / मेरा कारागार है।" 'पटकथा' सिर्फ इसी दृष्टि से महत्त्व-पूर्ण नहीं है कि उसमें तत्कालीन भारतीय समाज के राजनीतिक परिवर्तनों और खासकर चौथे आम चुनाव का विशद चित्रण है, बल्कि इस दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है कि उसमें धूमिल की काव्ययात्रा और राजनीतिक विचारधारा

के तमाम पहलू एकत्र हैं—पिछली साठोत्तरी धारा के अवशेष नये क्रान्तिकारी परिवर्तन के बीजांकुर और रचना और चिन्तन के अन्तर्विरोध भी।

'अकाल दर्शन' में धूमिल आजादी और गांधी के नाम पर चलनेवाले मुहावरे समझ जाते हैं, अकाल के पीछे जनसंख्यावृद्धि को कारण बतानेवाले कुतर्क का खंडन करते हैं—"पेड़ों पर बच्चे नहीं / हमारे अपराध फूलते है।" आजादी के 'बीस साल बाद' तो उनका सब्र जवाब देने लगता है—'जानवर बनने के लिए कितने सब्र की जरूरत होती हैं' और फिर आजादी की सार्थकता पर तीखा सवाल उठाते हैं—"क्या आजादी सिर्फ तीन थके हुए रंगों का नाम है / जिन्हें एक पहिया ढोता है / या इसका कोई खास मतलब होता है।" 'प्रौढ़ शिक्षा' में जिस दुनिया को ढँकने के लिए साधारण जन नंगे हो रहे थे वह दुनिया उघर जाती है और दिखाई पड़ता है कि 'आजादी के बाद के अँधेरे में' एक ओर अपढ़—गँवार जनता हलाल हो रही थी और दूसरी ओर "चालाक सुराजिये ····गलत इरादों का मौसम जी रहे थे' ··गर्म कुत्ता खा रहे थे / सफेद घोड़ा पी रहे थे।"

'भाषा की रात' में धूमिल की राजनीतिक चेतना भाषा आंदोलन का वर्गीय दृष्टि से विश्लेषण करती है। आर्थिक उत्पादन की तरह भाषा का स्वरूप वर्गीय नहीं होता। तमाम वर्ग एक ही भाषा का प्रयोग करते हैं, इसीलिए भाषा की लड़ाई अगर अलग से लड़ी जाय तो वह वर्गीय एकता में दरार डाल देती है, वर्ग संघर्ष की धार को कुंद करती है। इसीलिए सारी दुनिया के शासकवर्ग जनता के संघर्षों को भीतर से तोड़ देने या भटका देने के लिए सांप्रदायिक अन्तर्विरोधों की तरह भाषाई अन्तर्विरोधों का भी इस्तेमाल करते हैं। ऐसी स्थिति में सर्वहारा का राजनीतिक संगठन इन अन्तर्विरोधों से जुड़ी लड़ाइयों में वह नहीं जाता, बल्कि उन्हें वर्गीय मोड़ देता है। इस कविता में तीन मुँहवाली भाषा की रात तीन-भाषा-सूत्र की खौफनाक परछाई बनकर छा जाती है। भाषा के मुद्दे पर विक्षोभ उठ खड़ा होता है, आर्थिक मुद्दे ओझल हो जाते हैं। धूमिल देख लेते है कि "चन्द चालाक लोगों ने / (जिनकी नरभक्षी जीभ ने / पसीने का स्वाद चख लिया है) / बहस के लिए / भूख की जगह / भाषा को रख दिया है।" हत्यारों ने "तुम्हारी ऊब का चेहरा पहनकर फिर उसी जुबान में बोलना शुरू किया है'···जो तुम्हें बेहद पसन्द है।' शासकवर्ग ने जनता के असन्तोष को मारने के लिए "पड़ोसी देशों की / भुखमरी के किस्से" चला दिए है, गुस्से को ठण्डा करने के लिए "अखबार का आठवां कालम" बोल दिया है और

क्रन्न को वहलाने के लिए "वैष्णव जण तो तेणे कहिए" की नमकीन धुन प्रचारित कर रखी है। इस तरह "तुम्हें पूरा जाम करने का / पूरा इन्तजाम है।" एक ओर जनता की चेतना को कुंद करने के लिए इतनी जबर्दस्त व्यूहरचना और ऊपर से भाषाई झगड़ों का यह करिश्मा। नतीजा सामने है—"कल तक मुँह में जीभ डालकर / वोलनेवाला प्यारा पड़ोसी / आज / देशी दांतों की दोस्ती से / डर रहा है।" इससे एक ओर साम्राज्यवादी शक्तियाँ खुश हैं और दूसरी ओर पूँजीपति। कोई राजनीतिक शक्ति नहीं जो इस मामले में हस्तक्षेप करे, इसको वर्गीय मोड़ दे और जनता के भीतर वढ़ती हुई दरार को पाटकर व्यापक एकता पैदा करे। जनता चुपचाप है, "किताव में छपे पेड़ की तरह / मौसम से बेखबर है।" कवि उसे "वक्त में खींच लाने की कोशिश" में लगा है। वह आशंकित जनता को भरोसा दिलाता है—"मैं तुम्हारे ही कुनबे का आदमी हूँ / शरीफ हूँ / सगा हूँ।" धूमिल भाषाई हमलों से हलकान देश भाइयों को पुकार उठते हैं और कविता के द्वारा सही हस्तक्षेप करते हैं—"ओ भाषावर हमलों से हलकान मेरे भाई! / क्या तुम्हें अब भी / उसी का भरोसा है / जिसके अधिकार में / हमारी लिट्टी है / चावल है / इडली है / दोसा है / हाय, जो असली कसाई है / उसकी निगाह में / तुम्हारा यह तमिल दुख मेरी इस भोजपुरी पीड़ा का भाई है।" यहाँ जनता के दुख दर्द के प्रति धूमिल की सच्ची सहानुभूति फूटकर बह निकली है, लेकिन वह सही राजनीतिक समझ से सधी हुई भी है। वे जनता के पारस्परिक विक्षोभ का निशाना असली कसाई की ओर मोड़ देते हैं और एक व्यापक जन-एकता की भूमि पर तमिल दुख और भोजपुरी पीड़ा के बीच मजबूत भाई चारा कायम करते हैं। ये जयशंकर प्रसाद के चाणक्य की तरह भाषा ठीक करने से पहले आदमी को ठीक करने के पक्ष में हैं। वे "देश के पोर पोर में दुखते हुए गूँगे जुनून" को पुकारते हुए कहते हैं—"भाषा ठीक करने से पहले आदमी को ठीक कर / आ अपने चौदहों मुखों से / बोलता हुआ आ।" वे विशाल भारतीय जनता के लिए तमाम भारतीय भाषाओं में बोलने की आजादी चाहते हैं।

'मुनासिब कार्रवाई' में 'चीजों के गलत होने का' और 'गलत होने की जड़' का भी पता चल गया है। यह नया बोध धूमिल की नई राजनीतिक चेतना से पैदा हुआ है, जिसके सहारे वह सत्ता और विपक्ष की तमाम शासकवर्ग की राजनीति की असलियत समझ लेते हैं। 'गलत होने की जड़' का पता "इस समझदारी में है / कि वित्तमन्त्री की ऐनक का / कौन-सा शीशा कितना मोटा

है / और विपक्ष की बैंच पर बैठे हुए / नेता के भाइयों के नाम / सस्ते गल्ले की कितनी दुकानों का / कोटा है / और जो चरित्रहीन है / उसकी रसोई में पकनेवाला चावल / कितना महीन है।" सचाई यह है और इस वक्त 'सचाई को जानना' 'विरोध में होना है'। धूमिल की यह विरोध-चेतना केवल भंडाफोड़ तक सीमित विरोधी दलों की राजनीतिक चेतना से आगे ही नहीं, उसके विरोध में भी है। विपक्ष का असली चरित्र तो कोटा-परमिट से जुड़ा है। धूमिल की विरोध-चेतना को समग्र राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में न देखने के ही कारण नेमिचंद जैन उसे विरोधी दलों की 'भंडाफोड़ चेतना' तक सीमित मान लेते हैं। धूमिल की काव्य-चेतना सचाई को जान लेने और विरोध में खड़ा होने की इस प्रक्रिया का ही अगला विकास है। इसलिए "यहीं से / अपराधियों की नाक के ठीक नीचे / कविता पर बहस शुरू होती है।" यहाँ वे अपनी राजनीतिक चेतना के साथ अपनी कविता का अविच्छिन्न सम्बन्ध जाहिर करते हैं।

धूमिल को कविता की शक्ति का महत्त्व मालूम है, जिसके बूते "एक नदारद-सा आदमी / समूचे शहर की जुबान बन जाता है।" लेकिन वे इसकी सीमाओं से भी परिचित हैं। कवि एक व्यक्ति होता है और कविता का उत्पादन व्यक्तिगत स्तर पर ही होता है। वह सामूहिक उत्पादन में लगे हुए अन्य श्रमिकों जैसा नहीं है। धूमिल के शब्दों में "अकेला कवि कटघरा होता है"। यह स्थिति कवि में असुरक्षा और भय पैदा करती है। यह भय और असुरक्षा किससे है ? उससे जो "आदमी के भेस में शातिर दरिंदा है / जो हाथों और पैरों से पंगु हो चुका है / मगर नाखून में जिंदा है / जिसने विरोध का अक्षर-अक्षर / अपने पक्ष में तोड़ लिया है / जो जानता है कि अकेला आदमी झूठ होता है / जिसके मन में पाप छाया हुआ है।" इस अघाये हुए दरिंदो के तन्त्र में "असली अपराधी का / नाम लेने के लिए / कविता सिर्फ उतनी ही देर तक सुरक्षित है / जितनी देर तक कीमा होने से पहले / कसाई के ठीहे और तनी हुई गँड़ास के बीच / बोटी सुरक्षित है।" इसीलिए कवि जल्दी से कविता पर बहस शुरू करना और शहर को अपनी ओर झुका लेना चाहता है। यह कवि का अहं नहीं है, यह अपने अकेलेपन और अपनी सीमा की सही समझ और जनता से अधिकाधिक जुड़ाव की जरूरत का एहसास है। अपनी मध्यवर्गीय सीमा का बोध कवि की 'पटकथा' में भी है। जब हिन्दुस्तान उससे उठने और ऊब्र को आकार देने का आह्वान करता है तब वह अपनी हिचक साफ-फाफ जाहिर करता है। उसकी हिचक का क्या सबब है ? "मेरे पास /

कुल जमा थोड़ी सुविधाएँ थीं / जो मेरी सीमाएँ थीं / यद्यपि यह सही है कि मैं / कोई ठंडा आदमी नहीं हूँ / मुझमें भी आग है / मगर वह / भभक कर बाहर नहीं आती / क्योंकि उसके चारों तरफ चक्कर काटता हुआ / एक पूंजी-वादी दिमाग है / जो परिवर्तन तो चाहता है / मगर आहिस्ता आहिस्ता……।" अपने साहस की सीमा और भय की बात 'भाषा की रात' में भी है। 'कवि १९७०' अपना हाथ खोकर चिमनी के नीचे खड़े निहत्थे मजूर के परिप्रेक्ष्य में अपने कविकर्म के दायित्व और अपनी पारिवारिक और निजी सीमाओं पर सोचता है। एक ओर कविता है जो अपनी खूराक के लिए "समूचा आदमी माँगती है" और दूसरी ओर उसका निजी डर और घर है जहाँ "बीमार बच्चे का फटे हुए दूध-सा रोना" सुनाई पड़ता है। 'विपक्ष में सिर्फ कविता है'—यह धूमिल की समझ का असली पहलू नहीं है, असली पहलू है—क्रांतिकारी परिवर्तन में कवि और कविता की शक्ति और सीमा का एहसास।

अपनी व्यक्तिगत सीमा का सच्चा एहसास जनता की अपार शक्ति में विश्वास पैदा करता है। अपनी काव्ययात्रा के तीसरे चरण में धूमिल जनता की क्रांतिकारी शक्ति के और भी गहरे संपर्क में आते हैं। फलतः उनकी राज-नीतिक चेतना और अधिक स्पष्ट और पैनी होती जाती है। इस दौर की रचनाओं में शासकवर्ग के साथ-साथ जनता का रूप भी अधिक ठोस और विवि-धतामय दिखाई देता है। इनमें जनता के विविध रूप, उनके दुख-दर्द और उनके विभिन्न संघर्षों के, शासक वर्ग की चालों और दमनात्मक कार्रवाइयों के हलके और चटकीले चित्र हैं। क्रांति की आवाज ही नहीं सुनाई देती, उसके उठते हुए कदम और दृढ़ भुजाएँ भी दिखाई देती हैं। दूसरे चरण की कविताओं का अँधेरा तीसरे चरण की कविताओं में छँटता जाता है और आशा और संघर्ष की लालिमा में बदलता जाता है।

१९६७ में शासक वर्ग ने अपने आर्थिक संकट को हल करने के लिए जो हरितक्रांति शुरू की थी, उसका आठवें दशक के आरम्भ में ही खुलासा होने लगता है, जब किसान "खेत से फसलों की लोथ लेकर" लौटते हैं और "खटिया पर लहास" हो जाते हैं। हरितक्रांति से किसान हरा-भरा नहीं हुआ, उल्टे भूख की फसल और लहलहा उठी। भूख और उसकी आग इस दौर की कविताओं के केन्द्र में है। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में भी भूखे-दूखे भारत पर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने एक होली लिखी थी—"डफ बाजत भरत भिखारी को।" पाँवों में घुंघरू बाँधकर डफ बजा-बजाकर दूकान-दूकान नाचते-माँगते भिखारियों को

धूमिल ने बनारस में देखा था : "छितो छितो डांग छितो / छितो छितो डांग-डांग।" एक ओर सिंकती हुई रोटियाँ हैं दूसरी ओर बजती हुई भूख—"डफले पर बजती है भूख / पैर में घंटियाँ / दुपहर की आँच में सिंकती हैं / रोटियाँ।" इस विषमता के पीछे राजसत्ता का हाथ है, जिसका एक केन्द्र है संसद। एक ओर है मुट्ठी भर शोषकों का हित साधनेवाली संसद और दूसरी ओर बहुसंख्यक भारतीय जनता की साँसत—"मजा करो / तुम अपनी संसद से साथ / हम अपनी सांसत के साथ / छितो छितो डांग-डांग / छितो छितो....।" ऊपर से संसद करोड़ो-करोड़ जनता का प्रतिनिधित्व करती लगती है, लेकिन भीतर पैठकर सवाल करने पर पता चलता है कि संसद की वक्तृता या चुप्पी कुछ खास वर्ग-हितों से नियंत्रित होती है। वह रोटी से खेलनेवालों की असलियत पर पर्दा डालती है—"एक आदमी / रोटी बेलता है / एक आदमी रोटी खाता है / एक तीसरा आदमी भी है / जो न रोटी बेलता है / न रोटी खाता है / वह सिर्फ रोटी से खेलता है / मैं पूछता हूँ / यह तीसरा आदमी कौन है / मेरे देश की संसद मौन है।"

इस संसद में वामपंथी पार्टियाँ भी है। १९७० के बाद पूरे देश में और खासकर पश्चिम बंगाल में जन उभारों के दमन में इन्होंने सरकार की निरंकुशता का जिस तरह जमकर साथ दिया, उससे जनता का भारी मोहभंग हुआ। इस नये संशोधन को पहचाननेवाली इसी उभरती लोकदृष्टि से धूमिल 'लोहसायँ' में एक-एक कर आते किसानों, खेतिहर मजदूरों के बीच टेकू बनिहार को देखता है : "इधर उधर देखकर / धीरे से कहता है टेकू बनिहार / हँसुये पर ताव जरी ठीक तरे देना / कि धार मुड़े नहीं, आजकल / छिनार निहाई ने / लोहे को मनमाफिक हनने के लिए / हथौड़े से दोस्ती की है।" छिनार निहाई ने हथौड़े से यूँ ही दोस्ती नहीं की, दोस्ती तो सिर्फ उस नई चाल की माँग थी जिसपर चलकर ही लोहे को मनमाफिक हना जा सकता था।

इस दौर में धूमिल ने देखा कि पुराने जमाने की तरह अब "हत्यारे एकदम सामने नहीं आते।" उनके पास कई-कई चेहरे, अनुचर और बोलियाँ और "एक से एक आधुनिक सभ्य और निरापद तरीके" हैं। "ज्यादातर वे हथियार की जगह तुम्हें / विचार से मारते हैं।" संगठित और संघर्षरत जनता को तोड़कर फिर गुलाम बना लेने के लिए वे देश की एकता-अखंडता जैसे नारों का इस्तेमाल करते हैं। ये आकर्षक नारे फूल हैं, जो उनके असली मकसद को—जंजीरों को—छिपा देते हैं—"हजारों हाथ एक साथ उठते हैं—मुट्ठी की तरह /

संगठित होते हैं / तब आते हैं गुलामी के प्रवक्ता / वे जंजीरों को फूलों में छिपाकर लाते हैं।" "यह है देश ! तुम्हारी गर्दन कहाँ है ?" जनता जब इन नारों के भ्रमजाल में नहीं फँसती और धीरे-धीरे क्रांति की ओर कदम बढ़ाती है तब उनकी "स्वस्तिक करुणा खूँखार जबड़े में तब्दील होने लगती है" और वे जनवाद के तमाम आदर्शों और वादों के लबादे एक ओर फेंक दमन पर उतर आते हैं—"हत्यारों ने फेंक दिए हैं / सारे शब्द और विचार / उन्होंने हथियार उठा लिए हैं इस वक्त / इस वक्त तुम्हें तय करना है कि तुम / क्या करोगे ?" धूमिल यहाँ समस्त भारतीय जनगण से सवाल करते हैं कि इस नंगे निरंकुश तंत्र का मुकाबला कैसे करोगे ? निरंकुशता को खत्म किए बगैर जनतंत्र हासिल नहीं किया जा सकता। यहीं धूमिल ने "कर्फ्यू पर शांति ठंडी सड़क पर" / सैनिक दस्तों के जूतों से" निकलती एक सफेद और मार्मिक ध्वनि सुनी—"जनतंत्र···· जनतंत्र····जनतंत्र····जनतंत्र····।" यहीं आठवें दशक के दूसरी खूंटी तोड़ने के तत्काल बाद तिहत्तर में उन्होंने पाया कि "नदी के मुहाने पर / हलचल है और जंगल / अपना रास्ता बदल रहा है।" इस नए बदलाव से जुड़कर शब्द भी सक्रिय हो उठते हैं, इस संघर्ष में सभी अपनी-अपनी भूमिका में खड़े होने लगते हैं—"भूख का सिलसिला / भाई चारे की जमीन पर / छापामार सीटियाँ बजाने लगा है / और तब ही से भाइयों ! मेरे पुरवासियों / मेरे पड़ोस की चुनमुन चिरैया / अपना घोंसला लोहे की जालियों से / बुनने लगी है और मेरी छप्पर का / एक नन्हा तिनका / जंगल की शाख होने का सपना / देखने लगा है।" संघर्ष वर्गों के बीच स्पष्ट विभाजन रेखा खींच देता है और सबको अपनी निश्चित भूमिका में खड़े होने के लिए मजबूर कर देता है। चुनमुन चिरैया है निम्नपूंजीपति वर्ग जो अपनी छोटी-छोटी सुविधाओं को बचाये रखने के लिए एक बड़े उद्देश्य से संचालित जनसंघर्ष से भागता फिरता है। छप्पर का नन्हा तिनका है गरीब तबका, क्रांति की विकसित चेतना से सम्पन्न बुद्धिजीवी, जो अपनी सार्थकता 'जंगल की शाख' होने में—जनक्रांति का अंग बन जाने में समझता है। शंभुनाथ इस कविता की उच्छ्वसित प्रशंसा में बह गए हैं और उन्होंने चुनमुन चिरैया के घोसले को फासिस्ट विरोधी मोर्चे का दुर्ग समझ लिया है।[1]

धूमिल की इस दौर की कविताओं में क्रांतिकारी संघर्ष बहुत मुखर है।

---

१. प्रसंग – सं० शम्भुबादल, हजारीबाग। लेख में चर्चित और उद्धृत सभी कविताएँ धूमिल के तीन काव्य संग्रहों—'संसद से सड़क तक', 'कल सुनना मुझे' और 'सुदामा पांडे का प्रजातन्त्र' में संगृहीत हैं।

यहाँ भूख से आग और प्रतिकार की भावना सुलगती है। लोहे की जीभ कविता के मुहावरे उचारती हुई बतलाती है—"एक फूल की कीमत हजारों सिसकियों ने चुकाई है।" यहाँ आकर "हड़ताल का रास्ता हथियार के रास्ते से जुड़ गया है।" जैसे निराला ने विप्लव के बादलों का आह्वान किया था वैसे ही धूमिल ने यहाँ क्रांति की मुँहबोली बहन को पुकारा है—"ओ क्रान्ति की मुँहबोली बहन / जिसकी आँतों में जनमी है / उसके लिए रास्ता बन।" सत्ता को भूख के आँसुओं से खतरा नहीं है, भूख से पैदा होती हुई क्रान्तिभावना से खतरा है। विरोध अगर आँसुओं के स्तर का है तो उसके लिए पूरी आजादी है, लेकिन गुस्से के लिए, 'आदमी होने की बान' के लिए उसके पास केवल दमन की 'रात्रिभाषा' है—"भूख के आँसू ? / इन्हें चलने दो / और यह रहा गुस्सा / हड़कंप तेवर / आदमी होने की बान / इसे जाम करो।" धूमिल का विरोध आँसुओं के स्तर का नहीं, अंगारों के स्तर का है। यहाँ "आँसू की जगह आँखों में बदले की आग" धधक उठती है। आदिवासी औरत झाड़ी की ओट से जलते हुए झोंपड़ों को देखती जंगली ढलान उतरती चली जाती है "जहाँ फौदी कार्रवाई के लिए हमलावर दस्ता / पेटियाँ कस रहा था।" फसल दखल के लिऐ आगे बढ़े किसान खून और आग में जूझते हैं—"मारे गए थे पुरजन / कटे हुए खेत की / मेंड़ पर लोथें गिरी थीं / खूनी खूँखार की तरह / जोतदार का सिर खेत में पड़ा था / अनाज / ढोया जा चुका था सुरक्षित मुकाम पर।" जब आँसू अंगारे बन जाते है तब दुखी स्त्रियाँ विलाप नहीं करतीं, बल्कि सच्ची वीरांगनाओं की तरह अपने प्रिय के खून का हिसाब चुकता करने की कसम खाती हैं—"चेहरा भर आईने के सामने / बालों में रोती हुई कंघी से एक कमसिन भुजाली / खून का हिसाब चुकता करने की कसम / खाती है।" इस मुकाम पर पहुँचकर "शब्द शस्त्र बन गए हैं" और कविता ने "दुश्मन की छाती के खून भरे छेद" से अपनी मुक्ति का रास्ता ढूंढ़ लिया है। बेटे के भविष्य की चिंता में रात भर जागते हुए सोचने और सोचते हुए जागने वाले "पिता की आँखों में फैसले की नमी है / और पूरब में फैली हुई लालिमा / उसके विचारों का रंग बन चुकी है।"

धूमिल की इस दौर की रचनाओं में हरितक्रांति के मारे, थके—हारे किसान हैं, क्रांतिकारी पति की हत्या का बदला लेने को कृतसंकल्प युवती है, बेटे की भविष्यचिंता से व्याकुल वर्तमान के संघर्ष में उतर पड़ने वाला पिता है, जलते हुए झोपड़ों की जुझारू आदिवासी औरत है, लोहसांय में बेलूर मजूर

टेकू बनिहार, और पलटू मिस्त्री हैं। पूरी आजादी और नए पाठ्यक्रम की माँग करते नौजवान हैं, आतिश के अनार-सी वह लड़की रोशन आरा है और जोतदारों से जूझनेवाले भूमिगत छापामार दस्ते हैं। ये सभी चित्र 'दूसरे प्रजातन्त्र की तलाश' के सूत्र में पिरोये हुए हैं और धूमिल की अपेक्षाकृत अधिक भास्वर विचारमाला का निर्माण करते हैं। इन रचनाओं में धुमिल साठोत्तरी यौन-कुंठावादी बुराइयों को दूर झटक देने में एक हद तक सफल हुए हैं। वे माँ, पत्नी, प्रेमिका आदि नारी के विभिन्न मानवीय रूपों की सहज अवतारणा के साथ-साथ राजनीतिक तोर पर जुझारू नारीचित्र भी अंकित करते हैं। राजनीतिक सहानुभूति का क्षितिज भी विस्तृत होता जाता है। धुमिल क्रांतिकारी संघर्ष से घनिष्ठता बनाने के साथ ही नौजवानों के स्वतः स्फूर्त आंदोलन का समर्थन करते हैं, छात्रनेता सन्तोष कुमार कपूरिया की हत्या से गहरे आहत होते हैं, पी० ए० सी० विद्रोह के प्रति सहानुभूति व्यक्त करते हैं और अंधराष्ट्रवाद के घेरे से बाहर आकर शरणार्थी समस्या पर विचार करते हुए बंगला देश को मान्यता देने पर सवाल उठाते हैं। धूमिल की काव्ययात्रा के अन्तिम चरण में उनकी राजनीतिक विचारावारा का सर्वाधिक विकास दिखाई पड़ता है। वे अकेलेपन के अँधेरे में घुटते हुए नहीं, कविता के मोर्चे पर लगातार आगे बढ़ते हुए मरे, बल्कि शहीद हुए।

वैसे धूमिल की समूची काव्ययात्रा में असंगतियाँ न हों, ऐसा नहीं है। साठोत्तरी बुराइयों का असर अनवरत संघर्ष के बावजूद उनकी कविता में कमोवेश अन्त तक बना रहा। इसका सबसे बड़ा प्रमाण है—आखिरी दिनों की लिखी 'कविताएँ'। उनकी कविता में जनता का भरा पूरा यथार्थ चित्र और उसके प्रति गहरी सहानुभूति वैसी नहीं है, जैसी प्रगतिवादी कविता में। क्रांतिकारी संघर्ष में जनता की भूमिका को उन्होंने हमेशा ध्यान में नहीं रखा है और कविता की भूमिका को कभी-कभी बढ़ाकर देखा है। इन असंगतियों के बावजूद उनकी कविता में सकारात्मक पहलू हैं और ज्यादा हैं और वही उनकी कविता के मुख्य स्वर हैं। और इससे भी महत्वपूर्ण है उनकी कविता और विचारधारा का निरन्तर एक सही दिशा में विकास और वह दिशा है जनता के सच्चे जनवाद की दिशा जिसे धूमिल 'दूसरा प्रजातन्त्र' कहते थे। इसीलिए जब वे अपनी कविताओं के लिए 'दूसरे प्रजातन्त्र की तलाश' करते हैं तब हमें डरने को जरूरत नहीं, क्योंकि सच्चे जनवादी क्रांतिकारी जनवाद से डरते नहीं, उसका स्वागत करते हैं, समर्थन करते हैं और उसमें शरीक होते हैं। ●

नई कहानी और अस्तित्ववाद

—नरेन्द्र सिंह

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् योरोप में अस्तित्ववादी चिन्तन के उद्भव और विकास के मूल में जो परिस्थितियाँ उत्तरदायी थीं लगभग वही परिस्थितियाँ भारत में स्वतन्त्रता प्राप्ति के पाँच-सात वर्षों के उपरान्त पैदा होना शुरू हुईं। स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व भारतीय जनमानस में अपने भविष्य को लेकर आशा की एक जबरदस्त किरण चमचमा रही थी, जो स्वतंत्रताप्राप्ति के पश्चात बीतते काल के साथ घोर निराशा में परिवर्तित हो गयी। यह भारतीय जनमानस के मोहभंग का काल था। हिन्दी साहित्य और खासकर हिन्दी नई कहानी के क्षेत्र में भी। भले ही अस्तित्ववाद का जन्म पश्चिम में हुआ, लेकिन स्वातन्त्रोत्तर भारत की सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक परिस्थितियों ने इसे भारत की जमीन पर खाद-पानी उपलब्ध करा दिया।

१९५१ के आसपास कहानी के क्षेत्र में एक नयी चेतना का उदय हुआ। १९५० के पहले की नई कहानी दो खेमों में बँटी हुई थी। एक था मनोवैज्ञानिक कहानी का क्षेत्र और दूसरा प्रगतिवादी कहानी का क्षेत्र। दोनों ही खेमों में जीवन से कटी हुई अयथार्थमूलक कहानियों की भरमार थी। एक के प्रेरणा विन्दु फ्रायड, एडलर और युंग जैसे मनोवैज्ञानिक थे, दूसरे के कार्ल मार्क्स जैसे चिन्तक। किन्तु यह निर्विवाद है कि दोनों ही खेमों में फार्मूलाबद्ध नारेबाजी से मुक्त कहानियों का दौर चल रहा था। इससे अलग हटकर भोगे हुए यथार्थ को कहानी के माध्यम से प्रकट करने वाले नये कहानीकारों का उदय हुआ। निर्मल वर्मा, रेणु, शिवप्रसाद सिंह, मार्कण्डेय, अमरकान्त, राजेन्द्र यादव, कमलेश्वर, भीष्म साहनी, मोहनराकेश आदि की कहानियों ने एक नये युग का सूत्रपात्र किया। इसे अब नई कहानी के नाम से अभिहित किया जाने लगा है।

प्रारम्भ में नगरकथा और ग्रामकथा का विचार चलता रहा, परंतु दोनों ही क्षेत्रो में इन कहानीकारों ने सामाजिक बदलाव को कहानियों का विषय बनाया। सन् १९५० के आस-पास भारत की तस्वीर आज के परिप्रेक्ष्य में

देखी जाय तो मानना पड़ेगा कि आजादी के लिए जो उत्साह पहले विद्यमान था, वह समाप्त हो गया था। यह एक प्रकार के आत्मान्वेषण की प्रवृत्ति का दौर था। समाज में आर्थिक वैषम्य अपनी चरमसीमा को प्राप्त कर चुका था। नगर जीवन की चकाचौंध गाँव के लोगों को अपनी तरफ आकर्षित कर रही थी। नगर और ग्राम दोनों जगहों पर अपार गरीबी और बेरोजगारी का बोलवाला था।

मूल्यों पर एक लम्बी बहस कहानी के क्षेत्र में इस बात का प्रमाण है कि पुराने जीवन मूल्य बुरी तरह से ढह चुके थे। सामाजिक और सांस्कृतिक रूप से विघटन का नया दौर शुरू हुआ। यद्यपि पंचवर्षीय योजनायें चलाई गयीं और विदेशी मदद से देश की हालत सुधारने का प्रयत्न किया गया, पर इसे तटस्थ रूप से देखें तो भयानक भिक्षाकाल कहा जा सकता है। भारत जैसे कृषि प्रधान देश की जनता के लिए जिसे रवीन्द्र बाबू ने 'मानव सागर' कहा है, विदेशों से खाद्यान्न की भिक्षा चलती रही। सामाजिक मूल्यों के विघटन का मूल कारण आर्थिक दुर्दशा और निरीहता कही जा सकती है। परिवार टूटने लगे, परिवार के बाहर कृषक मजदूर होने के लिये विवश होने लगे। ऐसी स्थितियों में जो कहानियाँ लिखी गयीं उनमें मानवमूल्यों के ह्रास का स्वर तीव्रता के साथ सुनाई पड़ने लगा। लोगों ने मूल्यवत्ता के अभाव को मूल्यमूढ़ता का नाम देना शुरू किया। इन्हीं परिप्रेक्ष्यों में नई कहानी के भीतर अस्तित्ववाद का जन्म होता है।

परम्परा से चले आते मूल्य पुराने पड़ गये। वे रूढ़ियाँ बन गये थे, नये मानवमूल्य अभी विकसित नहीं हो पा रहे थे, ऐसी स्थिति में कहानियों के क्षेत्र में घोर विनिपात का युग दिखाई पड़ता है। इसमें अस्तित्ववादी 'नान्यः पन्थाः' (नो एक्जिट) वाली विवशता सर्वत्र दिखाई पड़ती है। इसीलिये कहानियों में इसका प्रभाव कहीं अस्पष्ट तो कहीं स्पष्ट रूप से दिखलाई पड़ता है। परिणामतः जहाँ इसका प्रभाव स्पष्ट है कहानीकारों ने इसे सार्त्र, अल्बेयर कामू व काफ्का के अनुसार ही कहानी में पिरो दिया है। इस तथ्य को नई कहानी के अधिकांश लेखकों ने निःसंकोच स्वीकारा भी है। असल में दिग्भ्रमित भारतीय पीढ़ी के सम्मुख इस समय ऐसा कोई भारतीय दर्शन बचा ही नहीं था, जो समयानुकूल हो और दग्ध हृदयों पर शीतलता प्रदान करनेवाला मरहम रख सके। ऐसे में इस विदेशी दर्शन ने भारतीय बुद्धिजीवियों के हृदय को छुआ

और शीघ्र ही उनके दिलोदिमाग में उतर गया तथा परिस्थितियों के तकाजे से नई कहानी पर भी छा गया।

"इसीलिये अस्तित्ववादी चिंतन आधुनिक जीवन के संकटबोध से उत्पन्न जीवनदृष्टि है"।[१] "कितना अजीब अकेलापन है—राह है, कदम है, घर है, लेकिन कुछ भी नहीं एक विराट अनस्तित्व। अंधेरा अनिश्चय विराट अथाह और उसके समक्ष में निहत्था अपने अतीत और भविष्य से भी वंचित। जहाँ पहुँचा था वह डूब चुका है और जहाँ जाना है वह पता नहीं अन्धेरे के पार है भी या नहीं। एक विराट अस्तित्व शून्य''''अन्धकार शायद हम यह यात्रा जीवन भर करते रहते हैं और कितनी बार यह अस्तित्व यह शून्य हमको जीने लगता है और हम पाते हैं कि हमारा समस्त 'आस-पास' उजाला, भीड़-भाड़, विज्ञान दर्शन अकस्मात अस्तित्व में लीन हो गया है।"[२] "निःसंदेह हमारे कथा साहित्य पर अस्तित्ववाद का प्रभाव पड़ा है। इस प्रभाव ग्रहण का वहुत दुरुपयोग भी हुआ। इसका मूल कारण यही है कि इस प्रभाव को भारतीय परिवेश में कम से कम ग्रहण किया गया। वैसे पाश्चात्य साहित्य में से कुछ ग्रहण करना गलत काम नहीं है। जब संस्कृतियाँ इतने निकट आती हैं तो यह आदान-प्रदान एक सहज स्थिति बन जाती है। हाँ अन्धानुकरण करना घातक होता है''''''और यह अन्धानुकरण अधकचरे लेखकों में ही होता है"[३]। मुख्यतः छठवें और सातवें दशक की कहानी पर अस्तित्ववादी चिंतन के विभिन्न रूप जैसे ईश्वरीयबोध, स्वतंत्रताबोध, सामाजिक एवं वैयक्तिकबोध, क्षणबोध, संघर्ष, निराशा, व्यथा, विसंगति, शून्यता, मृत्युबोध, यथार्थबोध आदि का प्रभाव अनेक स्तरों पर पड़ा है।"

अस्तित्ववादी चिंतन के अनुरूप ईश्वरीय बोध के सम्बन्ध आस्थावादी एवं अनास्थावादी दोनों ही प्रकार के स्वर, नई कहानी में देखे जा सकते हैं। राजेन्द्र यादव की 'मजाक' नामक कहानी में एक पात्र कहता है—"खड़ी क्या है जाकर भगवान की प्रार्थना कर बुद्धू तू नहीं जानती तेरे ऊपर आई कितनी बड़ी मुसीबत को उन्होंने टाल दिया" अस्तित्ववादी दर्शन के ईश्वरीय बोध में ईश्वर को नकारने सम्बन्धी अवधारणा का प्रभाव छठवें दशक की नई कहानी

---

१. कमलेश्वर 'राजा निरबंसिया की भूमिका'।

२. धर्मवीर भारती।

३. शिवप्रसाद सिंह।

पर पर्याप्त पड़ा है। राजेन्द्र यादव की कहानी 'प्रश्नवाचक पेड़' का नायक कहता है—"अगर आज ईसा हमारे बीच में होता तो हम उसकी बाहें पकड़ कर सूली पर लटका देते और फिर खुद चीखते फिरते कि उसे सूली पर लटका कर हमने ही तो भगवान बनाया वर्ना पूछता कौन उसे ?" इसी प्रकार मन्नू भण्डारी की कहानी 'ईसा के घर इंसान' की लूसी कहती है—"मैं अपनी इस जिंदगी को अपने इस रूप को चर्च की दीवारों के बीच नष्ट नहीं होने दूँगी मैं जिन्दा रहना चाहती हूँ........मै इस चर्च में घुट-घुट कर नहीं मरूँगी।"

ईश्वर और आराधनास्थल के प्रति क्षोभ और वितृष्णा के ऐसे स्थल इस दशक की हिन्दी नई कहानी में अनेक स्थानों पर दिखाई पड़ते हैं। ईश्वर के प्रति घृणा और विक्षोभ के साथ-साथ धर्म के प्रति घृणा और भाग्य के प्रति उपेक्षावृत्ति अस्तित्ववादी चिंतन की प्रमुख विशेषता है।

अस्तित्ववाद के अनुसार मानव की स्वातन्त्र्य भावना में ही उत्तरदायित्व की भावना निहित है। शिवप्रसाद सिंह की कहानी 'नन्हो' की नायिका नन्हो अपनी वर्तमान स्थिति के लिए स्वयं को ही उत्तरदायी समझती है। नन्हो सोचती है—"झुकी हुई पलकों से घिरी इन आँखों की पीड़ा (स्वयं) उसी की उपजाई हुई है, वही दोषी है, वही अपराधी है।"

स्वतन्त्रता विषयक अस्तित्ववादी अवधारणा का नई कहानी पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। मानवमूल्यों के संदर्भ में पश्चिम के अस्तिववादी दार्शनिक नीत्से सार्त्र के विचारों का हिन्दी नई कहानी पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। इसी धारणा के अनुरूप छठवें दशक की नई कहानी में भी प्राचीन मूल्यों के प्रति तीव्र आक्रोश तथा नवीन मूल्यों के ग्रहण के प्रति एक प्रकार की प्यास और छटपटाहट स्पष्ट दिखाई पड़ती है। परम्परा से चले आ रहे मूल्य अब पुराने पड़ गये थे और वे रूढ़ियों के रूप में विकसित हो चुके थे। वैसे तो जीवनमूल्यों के स्रोत के विषय में अस्तित्ववाद के मूल चिंतकों में भी मतभेद की स्थिति है। सत्य की रक्षा से ही जीवनमूल्यों की रक्षा होती है। सत्य की रक्षा तभी सम्भव है, जब मनुष्य अपने अस्तित्व को स्वीकार करता है। सार्त्र का यह मानना है कि मानव की चयन की भावना से ही मूल्यों की रचना होती है। सार्त्र मानता है कि मानव से निरपेक्ष रहकर मूल्यों में स्वतः कोई प्रामाणिकता नहीं है।

भारत को स्वतन्त्रता प्राप्त हुई, परन्तु देश के विभाजन की शर्त पर। अपने लोगों के शासन का स्वप्न कांग्रेस के निरंतर भ्रष्ट होते जा रहे कारनामों द्वारा बुरी तरह ध्वस्त हुआ। सामाजिक जीवन और सामाजिक सोच में आमूल परिवर्तन हुए। पुरानी परम्पराओं पर से मनुष्य की आस्था डगमगाने लगी, फलस्वरूप पुरानी परम्पराएँ डगमगा कर धरासायी होती गयीं। नई परम्परा की तलाश का कार्य शुरू हुआ। यही कारण है कि इस कालखण्ड के अधिकांश कहानीकारों में नई परम्पराओं के प्रति एक प्यास सी दिखाई पड़ती है।

इस समय की कहानियों में पात्र प्राचीन मर्यादा और रूढ़ियों को ठोकर मारकर आगे बढ़ जाना चाहते हैं। राजेन्द्र यादव की कहानी 'प्रतिहिंसा' की नायिका कहती है—"मैं तुम्हें बता दूँ ऐसी प्राचीन रूढ़ियों को मैं ठोकर मार कर मार्ग से अलग कर दूंगी जो मनुष्य को पशु समझती हों चाहे वे स्मृतिविहित हों या वेदविहित" सातवें दशक की नई कहानी में भी प्राचीन मूल्यों का खण्डन और नए मूल्यों का स्वागत किया गया है। ज्ञानरंजन की कहानी 'फैंस के इधर और उधर' का नायक दो दुनियाओं में जी रहा है। एक नायक के परिवार की दुनिया है और इसी के समानान्तर एक नई दुनिया है। नायक की सहानुभूति नए परिवार के साथ है, परन्तु वह अपने पुराने संस्कारों से भी पूर्णतः मुक्त नहीं है, लेकिन ऐसे अवसरों पर वह स्वयं अपने प्रति भी निर्मम हो जाता है। समय के तकाजे के बावजूद सातवें दशक की अपेक्षा छठवें दशक में ये तल्खी कहीं अधिक उभर कर आई है। अमरकांत के कहानी संग्रह 'जिन्दगी और जोक' की अधिकांश कहानियाँ बदलते मूल्यों के जाल में फड़फड़ाती, अपनी पहचान बनाने में व्यस्त दिखाई पड़ती हैं। जिन्दगी और जोक, इंटरव्यू, एक असमर्थ हिलता हाथ आदि कहानियों में बड़े ही शसक्त तरीके से अन्धविश्वासों, रूढ़ियों, आधुनिक विसंगतियों पर मार्मिक व्यंग्य किये गये हैं।

नई कहानी पर सामाजिक और वैयक्तिक बोधवाली अस्तित्ववादी चिन्तन प्रणाली का भी पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। अस्तित्ववादी चिन्तन के अन्तर्गत यद्यपि व्यक्तिप्रतिष्ठा या व्यक्तिस्वातंत्र्य पर जोर दिया गया है, तथापि समाज के महत्व एवं उसकी आवश्यकता को अनदेखा भी नहीं किया गया है। इसके अनुरूप इस दशक के कहानीकारों ने अपनी अनेक कहानियों में इस विषय को स्थान दिया है। असल में इस दशक के कहानीकारों में तीन प्रकार की

प्रवृत्तियाँ दिखाई पड़ती हैं। प्रथम वर्ग उन कहानीकारों का है, जिन्होंने मूलतः सामाजिकबोध को ही अपनी कहानियों में स्थान दिया है। इन कहानी लेखकों में फणीश्वर नाथ रेणु, मार्कण्डेय, शैलेश मटियानी और भीष्म साहनी को रखा जा सकता है। दूसरे वर्ग के लेखकों ने मूलतः वैयक्तिक बोध को अपनी कहानियों में स्थान दिया है, इसमें निर्मल वर्मा और मन्नू भण्डारी प्रमुख हैं। तीसरे वर्ग के कहानीकारों ने समष्टि से व्यष्टि की तरफ दृष्टि रखी है इन कहानीकारों में शिवप्रसाद सिंह, मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव, कमलेश्वर और उषा प्रियंवदा प्रमुख हैं।

व्यक्ति का अपना स्वतंत्र अस्तित्व भले हो हो, समाज उसके लिये अनिवार्य है। "व्यक्ति का अस्तित्व समाज से बाहर तो है नहीं।"[१] "उसे जिन्दा रहने के लिये और भीड़-भब्बड़ चाहिए।"[२] इसके बावजूद 'धागे' से लटकते निर्मल वर्मा जैसे लोगों ने व्यक्ति-स्वातंत्र्य की खूब वकालत की है। उनका कहना है—"लगता है वह ही सब कुछ है मैं उसके सामने कुछ भी नहीं हूँ। यह उसका बड़प्पन नहीं है।'[3]

"अस्तित्ववादी दर्शन में क्षण-क्षण को महत्व दिया गया है। प्रत्येक मनुष्य अपने जीवन के क्षण-क्षण को जीता एवं भोगता है। हिन्दी नई कहानी पर अस्तित्ववाद के इस क्षणबोध का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। वह मानता है कि जीवन के प्रत्येक क्षण में हमें प्रयत्न करना चाहिए।"[४] "जीवन के अमूल्य क्षण मनुष्य को व्यर्थ न गँवा देना चाहिए। देखो संसार में इतना सौंदर्य और ज्ञान बिखरा पड़ा है कि उसे देखने समझने के लिये" जिन्दगी में पर्याप्त समय नहीं है।[५] "जो सामने है जो क्षण हम जीते हैं उससे बड़ा सत्य और कोई हो सकता है? हम प्रत्येक क्षण बोल कर, हाथ हिला-हिला कर, दृष्टि निक्षेप कर, एक सृष्टि रच रहे होते हैं"।[६] मनुष्य के जीवन में किस पल किस क्षण क्या घटित हो जाय इसका अनुमान लगाना कठिन है। अतः मनुष्य को प्रत्येक क्षण को दृष्टि

१. धर्मवीर भारती : 'चाँद और टूटे हुए लोग'।
२. कमलेश्वर : 'राजा निरबंसिया'।
३. निर्मल वर्मा : 'पिछली गर्मियों में'।
४. राजेन्द्र यादव : 'खेल खिलौने'।
५. सोमा वीरा : 'दो आँखों वाले चेहरे'।
६. नरेश मेहता : 'एक समर्पित महिला'।

में रखकर आगे बढ़ना चाहिए। जैसे इंसान की जिंदगी में कभी-कभी एक क्षण आकाश से उतरता है, चमकता हुआ सौभाग्य क्षण, उज्ज्वल झिलमिलाता हुआ क्षण आकाश से सारे वक्त ऐसे क्षण उतरते रहते हैं जिस किसी पर पड़ जाते हैं उसका जीवन खिल उठता है।'[1] ऐसे क्षण के महत्व कमलेश्वर की 'साँप' मन्नू भण्डारी की 'यही सच है' उषा प्रियंवदा की 'पूर्ति' आदि कहानियों में मिलते हैं।

कर्म एवं संघर्ष बोध को अस्तित्ववादी चिन्तन में विशिष्ट स्थान दिया गया है। नयी कहानी के लगभग सभी पात्र प्राचीन जीवनमूल्यों, आदर्शों एवं आस्थाओं का घोर विरोध करते हैं और अपने कर्म एवं संघर्ष के बल पर नये मूल्यों को ग्रहण करते दिखलाई पड़ते हैं। सातवें दशक के कथाकारों ने मानव जीवन में कर्म और संघर्ष की महत्ता के अस्तित्ववादी दर्शन को अपनी कहानियों में विशेष महत्व प्रदान किया है। "शक्ति को लेकर ही तो शिव शिव है और उनमें साहस है कि वे कालकूट पचा सकें। कर्म के अभाव में मनुष्य एक प्रकार की घुटन का अनुभव करता है। मनुष्य कहीं न कहीं यह सोचता अवश्य है कि उसे जीवन में सुख वासना और धन नहीं चाहिए। तो फिर क्या? वह कुछ क्या है जो उसकी आत्मा में नासूर सा रिसता रहता है। अपना उपचार माँगता है। शायद काम! हाँ यही बिल्कुल यही जो उसके जीवन की घड़ियों को निपट सूना न छोड़े, जिसमें वह अपनी शक्ति लगा सके, अपना मन डुबा सके, अपने को सार्थक अनुभव कर सके चाहे उसमें सुख हो या दुःख अरक्षा हो या सुरक्षा, शोषण हो या पोषण····उसे सिर्फ काम चाहिए करने के लिये कुछ चाहिए। यही तो उसकी प्राकृतिक आवश्यकता है····पहली और आखिरी माँग है। वह उस घर का है जो सिर्फ काम करना जानता है। काम ही जिसकी आस है। सिर्फ वह काम चाहता है काम।"[2] कमलेश्वर को कहानी 'राजा निरबंसिया' के इस उद्धरण की तुलना सार्त्र के कर्म सिद्धान्त से की जा सकती है।

"यदि मनुष्य को अपने कर्म पर अटूट विश्वास है तो वह जीवन में आये बड़े से बड़े व्यवधान को भी बड़ी आसानी से पार कर सकता है। सहारा उसे चाहिए जो अपने आप को अबला समझे! मैं सबला हूँ मुझे किसी का सहारा नहीं चाहिए।"[3]

---

१. भीष्म साहनी : 'पटरियाँ'।
२. कमलेश्वर : 'राजानिरबंसिया'।
३. मन्नू भंडारी : 'जीती बाज़ी की हार'।

सातवें दशक की नयी कविता में क्षणबोध के महत्त्व का पर्याप्त प्रतिपादन किया गया है। रवीन्द्र कालिया के अनुसार जिन्दगी को क्षण में जिया और व्यंग्य के माध्यम से उरेहा जा सकता है। सातवें दशक की नयी कहानियों में अस्तित्ववादी चिन्तन के कर्म एवं संघर्षबोध को अनेक प्रकार से अभिव्यक्ति दी गयी है। "मुझे क्या होना है यह तो बड़ा साफ नहीं है हेडमास्टर साहब मगर यह जानता हूँ कि मुझे वह होना अवश्य है जो अभी नहीं है"।[१] जब मनुष्य अपने कर्मों द्वारा अपने अस्तित्व को सार प्रदान करना आरम्भ कर देता है तो अस्तित्व को सार प्रदान करने का यह संघर्ष कभी समाप्त नहीं होता।

ज्ञानरंजन की कहानी 'आत्महत्या' में भी मनुष्य को अपने अस्तित्व को जानने तथा कर्म करके स्वतन्त्र रूप से जीने की प्रेरणा दी गयी है। इस दशक की अधिकांश कहानियों पर सार्त्र के कर्मसिद्धान्त का प्रभाव पड़ा है।

अस्तिववादी दर्शन के अनुसार मानव-जीवन में व्यथा, वेदना, पीड़ा, निराशा, शून्यता, एकाकीपन का महत्त्वपूर्ण स्थान है। नयी कहानी में भी अस्तित्ववादी चिन्तन के अनुरूप निराशा व्यथा, विसंगति, शून्यता आदि बोध का प्रभाव स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। "वह जिन्दगी से तटस्थ हो चुका था। जीवन और मौत एक सी हैं। उसका दर्द और औरत का दर्द एक हैं। किसी न किसी गहराई में उतर कर तमाम जिन्दगी एक है। अगर वह मर जाय तो औरत को और औरत मर जाय तो उसको अपने दर्द से छुटकारा मिल जाय।"[२] धर्मवीर भारती की तीन कहानियों धुँवा, मरीज नम्बर सात और चाँद और टूटे हुए लोग में इसी मानवीय दुःख का वर्णन है। दुःख को स्वीकार लेने पर ही दुःख से छुटकारा मिल सकता है। शून्यता की स्थिति में या तो मनुष्य स्वयं शेष संसार से दूर होता चला जाता है या शेष संसार उससे दूर होता प्रतीत होता है।

मोहन राकेश की भी कई कहानियों में इस शून्यता की स्थिति का वर्णन है। इन कहानियों पर 'हेडगर' के शून्यवाद का गहरा प्रभाव दिखलाई पड़ता है। यही प्रभाव सातवें दशक के नई कहानी पर भी दिखलाई पड़ता है। इन कहानियों में भी निराशा, व्यथा, वेदना, पीड़ा, संत्रास, एकाकीपन, विसंगति, शून्यता जैसे अस्तित्ववादी प्रत्ययों का स्पष्ट प्रभाव पड़ा है। आज-

---

१. रामदरश मिश्र : 'खाली घर'।
२. धर्मवीर भारती 'चाँद और टूटे हुए लोग'।

कल परिवार में व्यक्ति किस प्रकार अजनबी बन जाता है और एकाकीपन में घुटनयुक्त जीवन व्यतीत करता है। इसकी ज्ञानरंजन की कहानी 'शेष होते हुए' में मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है। 'फेंस के इधर और उधर' नामक कहानी में दो पीढ़ियों के अन्तर और मुख्यत: अजनबीपन की अनुभूति को व्यक्त किया गया है।

छठवें दशक की 'नयी कहानी' में कमलेश्वर की कई कहानियाँ शून्यता निराशा, व्यथा और एकाकीपन को लेकर लिखी गयी हैं। 'सीखचे' नामक कहानी में शून्यता की स्थिति है तो दूसरी तरफ "खाट पर पड़े-पड़े उसके चारों ओर एक मोहक भयावना सा जाल फैल गया। लेटे लेटे उसे लगा जैसे उसका स्वयं का आकार वहुत क्षीण होता होता विन्दु सा रह गया। पर बिन्दु के हाथ थे पैर थे और दिल को धड़कन थी। कोठरी का घुटा-घुटा सा अंधियारा मटमैली दीवारें और गहन गुफाओं सी आलमारियाँ जिनमें से बार-बार कोई झाँक कर देखता था और वह सिहर उठता था फिर जैसे सब कुछ तब्दील हो गया हो····उसे लगा कि उसका आकार बढ़ता जा रहा है। वह मनुष्य हुआ लम्बा तगड़ा तन्दुरुस्त पुरुष हुआ। उसके हाथ शरीर के अनुपात से बहुत बड़े डरावने और भयानक हो गये····उनमें लम्बे-लम्बे नाखून निकल आये····वह राक्षस हुआ दैत्य हुआ ···आदिम बर्बर।"[1]

इस विराट संसार में इस अपार जनसमुद्र में एकाकीपन और अजनबीपन का एहसास अस्तित्ववादी चिन्तन का प्रमुख अंग है। छठवें दशक की 'नयी कहानी' में इस एकाकीपन और अजनबीपन का खूब वर्णन मिलता है। कमलेश्वर की कहानी 'खोई हुई दिशाएँ' में इस एकाकीपन और अजनबीपन को पूरी सफलता से चित्रित किया गया है। कहानी का नायक चन्दर सोचता है— और यह राजधानी जहाँ सब अपना है, अपने देश का है····पर कुछ भी अपना नहीं है अपने देश का नहीं है। रेगिस्तान, अनजाने सागर-तट, खामोशी, सूनापन आदि शब्द पूरी कहानी में अपनी अर्थवत्ता के साथ मौजूद हैं।

मन्नू भण्डारी की कहानियों में नारी जीवन की घुटन, टूटन, शून्यता और विसंगतियों का सफल चित्रण हुआ है। मन्नू भण्डारी की अधिकांश कहानियों को पढ़ने पर यह साफ-साफ दिखाई पड़ता है कि उनके ऊपर अस्तित्ववादी चिन्तन का प्रभाव पड़ा है।

---

१. कमलेश्वर : 'मेरी प्रिय कहानियाँ'।

"कम्मो सभी प्रकार के सुख-समृद्धि के वावजूद अपने पति की अत्यधिक व्यस्तता के कारण स्वयं को दु:खित, पीड़ित, शून्य तथा एकाकी महसूस करती है। उसे लगता है कि थोड़े ही दिनों में दुनिया का सारा रस सूख जायेगा। कितनी ही बार उसे ऐसा लगता था कि एक दिन जव वह उठेगी तो देखेगी कि घड़े का पानी ग्लास का दूध सव जम गया है। घर में कहीं तरलता नहीं है, सव कुछ ठोस हो गया है। एक दम जड़।''''क्यों नहीं हो जाता ऐसा ? जिस दिन भी ऐसा हो जायेगा। वह भी जड़ हो जायेगी तभी शायद इस यातना से भी मुक्ति मिलेगी।"[१] ये आज हर मनुष्य की नियति सी होती जा रही है दु:ख की अधिकता इससे कातर हो मृत्यु की अभिलाशा।

छठवें और सातवें दशक के किसी एक कहानीकार पर अस्तित्ववादी दर्शन का व्यापक प्रभाव देखना हो तो यह प्रभाव निर्मल वर्मा की कहानियों में देखा जा सकता है। निर्मल वर्मा को हम उन लेखकों की कोटि में रख सकते हैं, जो विदेशों में अपनी प्रेरणा के स्रोत खोजते हैं। भारतीय जीवन पद्धति उनके लिये उपेक्षणीय है। निर्मल वर्मा की कहानियों के चरित्रों पर सार्त्र और कामू के विचारों का प्रवल प्रभाव है। निर्मल वर्मा जैसे लोग रहते भारत में हैं लेकिन स्वप्न वे लंदन और पेरिस का देखते हैं। अतः यदि हम विर्मल वर्मा की कहानियों को विदेशी कहानियों का अनुवाद मात्र कहें तो गलत न होगा। निर्मल वर्मा के तीनों कहानी संग्रह, 'परिंदे', 'जलती झाड़ी' और 'पिछली-गर्मियों में' की अधिकांश कहानियाँ जीवन से पलायन घोर आत्मपरकता, शून्यता एकाकीपन, घुटन, कुण्ठा, निराशा आदि अस्तित्ववादी अनुभूतियों से भरी पड़ी हैं।

'दहलीज' नामक कहानी की रूनी कहती है—"नेहरू वत्ती बुझा दे उसने संयत निर्विकार स्वर में कहा, देखती नहीं मैं मर गयी हूँ।" इसी प्रकार 'परिंदे' कहानी की नायिका लतिका के माध्यम से अकेलेपन और सुनेपन की अभिव्यक्ति हुई है। 'सितम्बर की एक शाम' और 'माया का मर्म' नामक कहानियों में बेरोजगारी से उत्पन्न जिंदगी की व्यापक निरर्थकता अभिव्यक्त हुई है।

उषा प्रियंवदा के तीन कहानी संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। 'फिर बसंत आया', 'जिन्दगी और गुलाब के फूल' तथा 'एक कोई दूसरा' प्रियंवदा की कहानियों की दुनिया उपेक्षा, असफलता, सूनेपन, उबन आदि सहते पात्रों की दुनिया है।

१. मन्नू भण्डारी 'बाहों का घेरा'।

अस्तित्ववादी चिन्तन में मृत्युबोध का महत्वपूर्ण स्थान है। यह प्रश्न सीधे-सीधे मानवीय अस्तित्व से जुड़ा हुआ है। छठवें दशक की 'नई कहानी' में जहाँ भी मृत्युबोध से सम्बन्धित स्थल मिलते हैं उन सभी पर सार्त्र, कामू और नीत्से के अस्तित्ववादी चिन्तन का प्रभाव साफ-साफ परिलक्षित होता है। "प्रत्येक मनुष्य मरने के लिये ही पैदा होता है। चाहे वह आज हो या दो-चार वर्ष पश्चात्।"[१] "सतवन्ती तो गुजर गयी"[२] मनुष्य जन्म लेता है, फलतः मरता भी है। परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि मृत्यु के डर से मनुष्य अपने अस्तित्व से ही विमुख हो जाय।

सातवें दशक के कहानीकारों ने भी मृत्युबोध के अस्तित्ववादी स्वरूप को नये आयाम दिये हैं। ज्ञानरंजन की कहानी 'दिलचस्पी' में एक पात्र कहता है— "और हाँ तुम नहीं जानते होगे सामने के घोष बाबू बेचारे गुजर गये बड़े भले आदमी थे राम-राम।" इस दशक की कुछ कहानियों में तो मृत्यु जैसे गम्भीर मसले को निहायत फूहड़ ढंग से प्रस्तुत किया गया है। गंगाप्रसाद विमल की कहानी 'दूसरा दिन' में केलि-क्रीडा रत पति-पत्नी को पत्नी के बाप को मृत्यु की सूचना मिलती है। परन्तु वे अविचलित अपने काम में मस्त रहते हैं। सुधा अरोड़ा की कहानी 'मरी हुई चीज' पानू खोलिया की कहानी 'फर्क' तथा दूधनाथ सिंह की कहानी 'सपाट चेहरे' में मृत्युबोध अनेक स्तरों पर अभिव्यक्त हुआ है।

छठवें दशक में कमलेश्वर की एक कहानी 'दिल्ली में एक मौत' में सेठ दीवानचन्द्र की मृत्यु हो जाती है। मृत्यु होने से लेकर शव के जलकर राख हो जाने तक के मध्य सेठ के नाते, रिश्तेदार, मित्रादि बड़ी ही तटस्थता से अपना-अपना काम करते जा रहे हैं। साथ ही साथ सेठ की मृत्यु पर शोक प्रकट कर औपचारिकता भी निभा रहे हैं। इधर सेठ की लाश चिता पर जल रही है उधर उनके मित्रगण सिनेमा देखने का प्रोग्राम बना रहे हैं।

मृत्युबोध को लेकर मन्नू भण्डारी की कहानी 'श्मशान' में बड़ी नाटकीय अभिव्यक्ति हुई है। कथा नायक की पत्नी की मृत्यु हो जाती है। श्मशान जाकर वह भयभीत हो जाता है कि अब वह बेचारा भी मर जायेगा। श्मशान भी सोचता है कि जीवन साथी के बिना हो सकता है अगली लाश उसी की आये परन्तु वह व्यक्ति स्वयं तो नही मरता अपितु बाद में समय-समय पर तीन

---

१. राजेन्द्र यादव : 'अंगारों का खेल'।

२. कमलेश्वर : 'एक रुकी हुई जिन्दगी'।

अन्य शवों को अवश्य श्मशान पहुँचाने आता है। मृत्यु बोध को लेकर नरेश मेहता ने 'एक शीर्षक हीन स्थिति' सोमा वीरा ने 'ठंडी आँखें' नामक प्रसिद्ध कहानियाँ लिखी हैं।

छठें और सातवें दशक की अपरोक्त 'नई कहानी' को देखते हुए यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि इन दो दशकों में हिन्दी 'नई कहानी' पर अस्तित्ववाद का प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा है। यह प्रभाव कहानीकारों के ऊपर पाश्चात्य अस्तित्ववादी चिंतकों के विचारों के रूप में पड़ा और अलग-अलग परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न रूप लेकर उनकी कहानियों में अभिव्यक्त हुआ। 'नई कहानी' के अधिकांश लेखकों (जिनकी कहानियों पर अस्तित्ववादी चिंतन का प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा) ने स्वयं को अस्तित्ववादी दर्शन से प्रभावित माना है। इन लेखकों में भी मोहन राकेश, निर्मल वर्मा, मन्नू भण्डारी, कमलेश्वर, उषा प्रियंवदा, सोमा वीरा आदि पर अस्तित्ववाद का प्रत्यक्ष प्रभाव दिखता है, जबकि धर्मवीर भारती, शिवप्रसाद सिंह, अमरकान्त, भीष्म साहनी आदि कहानीकारों पर अस्तित्ववाद का अप्रत्यक्ष प्रभाव दिखलाई पड़ता है। परन्तु यह बात तो निर्विवाद सत्य है कि प्रस्तुत दोनों दशकों में रचित अधिकांश कहानियाँ अस्तित्ववादी दर्शन से प्रभावित हुईं। ●

समकालीन हिन्दी कविता की 'समकालीनता'

—डॉ० चन्द्रकला त्रिपाठी

सन् १९६० के बाद की कविताएँ 'समकालीन' मानी जाती हैं। 'नयी कविता' का पूर्ण विकास १९६१–६२ के आस-पास दिखायी देता है। इस कविता की अपनी भाववादी-रूपवादी घोषणाएँ थीं और इसका दावा था कि इसने परिवर्तन की पूरी सार्थकता को अपनी अन्तर्क्रिया में स्वीकार किया है। परन्तु दुर्भाग्यवश तू आ! तू आ! (नये कवि से—अज्ञेय) कहकर जिस नेता कवि ने अब तक उनकी अगुआई की वह, क्रमशः एक विशिष्ट अन्तर्मुखी भावधारा का कवि होकर सम्पूर्ण अभिव्यक्ति की आस्तिक व्याख्याओं की ओर मुड़ गया। यही नहीं, पन्त की लोकायतन (सन् १९६३) वीरेन्द्र कुमार जैन की सूर्योदयी कविताएँ और भारती की लोक संस्कृति की आधुनिक मिथकीय व्याख्याएँ एक जादुई तरीके का माहौल तैयार कर रही थीं, जिसमें कुछ-कुछ प्रसाद का भुलावे को आमन्त्रित करता स्वर आभासित था। सम्भव था कि यह जादू चल जाता और तमाम रचनाधर्मी रहस्यलोक की यात्रा पर निकल जाते, किन्तु निराला की विरासत सशक्त थी, मुक्तिबोध जैसा कवि सच्चाई का चेहरा परख चुका था। साथ ही नेहरू के दिये हुए स्वप्न टूटकर हर संवेदनशील व्यक्ति को तोड़ रहे थे, सो कविता फिर ज़िन्दगी की कड़वी सच्चाई में लौट आई।

सातवें दशक की कविता में 'राजनीति' का स्वर अधिक प्रभावी है। यह कविता सामाजिक राजनीतिक व्यवस्था से सम्बन्धित मूल्यों का पुनर्मूल्यांकन करती है। आजादी के बाद का मोहभंग, नैराश्य का आत्मपीड़न या आत्मोत्सर्ग-पूर्ण बेचारगी भरा दर्शन न बनकर समूचे अनुपयोगी और निरर्थक का समर्थ अस्वीकार बन जाता है। यह तोड़ने की कुंठा नहीं निर्माण का विश्वास है। नये कवियों की विपदगाथाएँ ये पीछे छोड़ आते हैं, जहाँ निर्विकल्पता के अँधेरे में अकेले खौफ खाने का खतरा था। नयी कविता समय के बुनियादी सवालों से टकराहट नहीं मोल ले रही थी, बल्कि संत्रास के ऐसे डरावने चित्र प्रस्तुत कर रही थी, कि मुक्तिपथ ओझल हुए जा रहे थे।

इन कविताओं में प्रायः आत्महत्यारी स्थितियों के लाचार से स्वीकार थे,

अथवा आयातित चिन्तन के आडम्बरपूर्ण प्रयोग। यह अवश्य है कि सर्जनात्मकता का आधुनिक कलात्मक स्वरूप नयी कविता महत्वपूर्ण ढंग से स्थापित करती है। भाषा तथा अन्य कलापरक प्रयोगों की नवीनता और मौलिकता सम्बन्धी प्रतिमान भी स्थिर होते हैं, कुछ ऐतिहासिक कृतियों का जन्म भी इसी दौर में होता है, साथ ही 'समकालीनता' से सचेत होकर जुड़नेवाले कवि भी इसी जमीन से विकसित होते हैं।

समकालीन कवि मुक्तिबोध की विरासत से प्रायः जुड़े हैं। 'समकालीनता' समय की रचनात्मक अपेक्षा का ऐतिहासिक स्वीकार है। यह एक गत्यात्मक चिन्तन प्रक्रिया है, जिसकी पूरी जिम्मेदारी अपने समय को उसका सार्थक चरित्र सौंपने के प्रति बनती है। समकालीन कविता का प्रस्थान बिन्दु सन् १९६३ के आस-पास स्पष्ट होता है। इस समय के कवि अपने को आक्रोशी कवि कहलवाना पसन्द करते हैं, और 'प्रारम्भ' (सम्पादक, जगदीश चतुर्वेदी) में संकलित कविताएँ विद्रोही मूड की वे कविताएँ हैं, जिनका अपने से पूर्व की कविताओं से अन्तर बड़ा स्पष्ट हैं। इस दौर में कई युवा कवि उभर कर आते हैं। जिनमें समय के साथ लड़ने का माद्दा है। इसी समय कुछ स्थापित कवियों की रचनाएँ भी 'समकालीन कविता' का महत्वपूर्ण इतिहास स्थिर करती हैं। गजानन माधव मुक्तिबोध की कृति 'चाँद का मुंह टेढ़ा है' (सन् १९६४) जन प्रतिबद्धता की अत्यन्त महत्वपूर्ण कृति है। मुक्तिबोध कविता के इतिहास में एक ऐसा नाम है, जिन्होंने सदैव अपने निश्चित (मार्क्सीय) विचारों के तहत सामाजिक राजनीतिक स्थितियों का विश्लेषण-संश्लेषण किया है। इनकी कविताओं में पराजय, नैराश्य, या कुंठा का दूर-दूर तक नाम-निशान नहीं है। वे सारी की सारी अराजकता, अव्यवस्था और सन्त्रास के मूल में 'आदमी' को मानते हैं, वह आदमी जो चन्द सुविधाओं के लिए बिक जाता है, वह जो जैसा है, वैसा बना रहना चाहता है—

"वह बिठा देता है तुंग शिखर के
खतरनाक, खुरदुरे कगार-तट पर
शोचनीय स्थिति में ही छोड़ देता है मुझ को—
कहता है—'पार करो पर्वत सन्धि के गह्वर
रस्सी के पुल पर चल कर
दूर उस शिखर कगार पर स्वयं ही पहुँचो'
अरे भाई, मुझे नहीं चाहिए शिखरों की यात्रा

मुझे डर लगता है ऊँचाइयों से
बजने दो सांकल !!

(मुक्तिबोध : 'चाँद का मुंह टेढ़ा है' पृ० ६)

मुक्तिबोध क्रान्तिचेता कवि हैं। उनके पास निर्माण के सार्थक स्वप्न हैं और वे कहते हैं कि अराजक व्यवस्था के पाँव बहुत कमजोर हैं, यह एक कायर और नपुंसक पूंजीवादी व्यवस्था है, जिस पर चोटकर उसे ढहाना मुश्किल नहीं है, उस चोट करने के लिए बुद्धिजीवियों को उनकी मारक नींद से जगाना मुश्किल है। वे स्पष्ट रूप से कहते हैं कि जागा हुआ बुद्धिजीवी वर्गापसरण के द्वारा निम्नवर्ग को संगठित करेगा और एक कायर तथा निरर्थक व्यवस्था का अन्त हो सकेगा। मुक्तिबोध से पहले निराला ने भी ज्ञानलोक के वासियों को चारणव्यवस्था के जंगल में वन्दी होते देख लिया था (निराला : 'अर्चना') प्रसाद की 'कामायनी' में श्रद्धा ने भी ज्ञानलोक के सौम्यजनों का छद्म पहचाना लिया था (प्रसाद कामायनी : 'रहस्य' सर्ग)। मुक्तिबोध ने इस खतरे की भयंकरता को पूरा-पूरा पहचाना और हर आदमी को अपने द्वैत से लड़ने की शक्ति दी। 'चाँद का मुंह टेढ़ा है' की अन्तिम कविता में इसी अन्तःसंघर्ष का रूप व्याख्यायित है जो आदमी को बड़ी सच्चाइयों से काटकर रखना चाहता है।

समकालीन कविता का इतिहास मुक्तिबोध से शुरू होता दिखाई देता है और इस परम्परा में अनेक जनवादी आस्था के कवि आ जुड़ते हैं। नागार्जुन, शमशेर बहादुर सिंह, राजकमल चौधरी, धूमिल, त्रिलोचन आदि प्रतिष्ठित कवि इस चेतना की पूर्ण प्रतिबद्धता स्वीकार करते हैं। वैसे निश्चित रूप से इन कवियों में जन प्रतिबद्धता पहले से विद्यमान है, ये सदैव आस्था और विश्वास के कवि प्रमाणित हुए हैं, एक चीज और जो इनकी समकालीनता को निर्विवाद बनाती है वह इनकी रचनात्मक सरलता नागार्जुन में समकालीन स्थितियों की विसंगतियों की पूरी पहचान है—

"स्थापित नहीं होगी क्या,
लाला लाजपतराय की प्रतिमा मद्रास में
दिखाई नहीं पड़ेंगे लखनऊ में सत्यमूर्ति ?
सुभाष और जे० एम० एन० सेनगुप्त क्या—
सीमित रहेंगे भवानीपुर और शाम बाज़ार की—
दुकानों तक,

तिलक नहीं निकलेगें पूना से बाहर ?
खुदीराम बोस, भगत सिंह, चन्द्रशेखर आजाद
पायेगें स्थान नहीं लोकसभा कक्ष में ?"

(नागार्जुन : 'प्यासी पथराई आँखें')

ये सवाल बड़े सीधे हैं और उतने ही खतरनाक भी, हर आदमी की सोच को छू लेने वाले जरूरी सवाल। समकालीन रचना के चरित्र का जरूरी पक्ष उसकी सरलता और सहज सम्प्रेषणता है, क्योंकि ये जनतन्त्र के युग में तन्त्र को सही और सार्थक रूप देने के लिए जन को प्रशिक्षित करने की, जागरूक बनाने की जिम्मेदारी मानकर चलती है। शमशेर की कविताएँ युगानुभूति के प्रति प्रतिबद्ध तो हैं किन्तु अनुभूति के तनाव का उतना मुखर सम्प्रेषण इनसे नहीं हुआ है, इसलिए जनवादी कविताएँ जिस प्रकार के बाहरीपन की माँग करती हैं वह इनसे सधी नहीं है, दूसरे इनके भीतर एक उद्दाम प्रेमी जीता है, जिसके अपने मोह खत्म होते नहीं दीखते, इसलिए जनमन की कविता के साथ ये थोड़ा पिछड़-पिछड़ चलते लगते हैं। राजकमल चौधरी, सक्षम कवि हैं। 'मुक्ति प्रसंग' नामक उनकी लम्बी कविता उन्हें समकालीन कविता के इतिहास में स्थापित करती है। यह कविता कवि की अपनी बीमारी के बहाने हैं, परन्तु यही इस कविता की शक्ति भी है कि वह पूरी की पूरी राजनीतिक सामाजिक स्थिति के बीमार वीभत्स रूप का साक्षात्कार कराती है। यह कविता अर्थ सम्प्रेषण की दृष्टि से बहुत सफल नहीं हैं। इसमें अर्थ के त्रिआयामी सन्दर्भ खुलते हैं ? यह ऐसे उलझे हुए धागों का ऐसा गुच्छा लगती है, जिनके सुलझाव का एक छोर पा लेने की देर है, धागा सुलझता चला जाता है। वस्तुतः समकालीन अनुभव की जटिलता को सुलझे हुए स्वर पर खोल पाना बहुत सरल कार्य नहीं है, प्रतीकों और रूपकों के संसार में भटक जाना अक्सर कवि की विवशता है। जिसके कारण अभिव्यक्ति उतनी मूर्त नहीं रह जाती कि सर्वसामान्य तक सम्प्रेष्य हो सके।

धूमिल, राजनीतिक त्रासदी के गहरे अर्थ को जमकर उभारनेवाले समर्थ कवि हैं। वे 'संसद से सड़क तक' लिखते हैं। समकालीन मुहावरों का इस्तेमाल धूमिल की कविता की शक्ति है—

"मुझे हर वक्त ख्याल रहता है कि जूते
और पेशे के बीच
कहीं न कहीं एक अदद आदमी है

जिस पर टांके पड़ते हैं
जो जूते से झाँकती हुई उँगली की चोट
छाती
हथौड़े की तरह सहता है" (धूमिल : मोचीराम)

धूमिल की कविता उनकी 'आज मैं लड़ रहा हूँ' आस्था की कविता है। धूमिल आम आदमी की लड़ाई में हर जगह शामिल हैं, चाहे वह संसद हो, या राशन की दुकान। वस्तुतः धूमिल के पास अनुभूति की इमानदारी है, इस इमानदारी से उनकी रचनाओं को वह पारदर्शिता मिलती है जो एक सुलझी हुई सृजनप्रक्रिया की उपलब्धि है।

त्रिलोचन से समकालीन कविता की सम्भावनाएँ ज्यादा समृद्ध होती हैं। त्रिलोचन के पास समय की गहरी पहचान है। अकविता और श्मशानी कविता के आत्महारा-दिशाहारा अनुभव संसार से अलग रचनात्मक राहों से जोड़ने का कार्य त्रिलोचन जैसे कवियों के कारण ही सम्भव हुआ। साठोत्तरी कविता का एक बड़ा हिस्सा मोहभंग की प्रतिक्रिया स्वरूप एक मानसिक विकृति का शिकार होता जाता है। युगीन विसंगतियों की तात्कालिकता से अत्यधिक प्रभावित ये कवि एकबद्ध स्थिति मूलकता का शिकार हो जाते हैं। इनमें एक बेचैनी, एक छटपटापट है। यह अस्थिरता उन्हें स्थितियों का समुचित निरीक्षण नहीं करने देती। अस्तव्यस्तता के इस उसर दौर में राजकमल चौधरी, नागार्जुन, धूमिल, त्रिलोचन आदि कवि, कविता की शक्तियों को विकास की गत्यात्मक प्रक्रिया के अनन्तर माँजते चलते हैं। त्रिलोचन की कविताएँ कविता के भीतर एक पूरा संसार रचती हैं, जो कविता को कविता की सीमाओं से मुक्त करता है। इसी क्रम में आठवें दशक की शुरुआत कुछ सशक्त हस्ताक्षरों से होती है, जिनकी जमीन में निराला की उर्वरता है, मुक्तिबोध की कल्पनाशक्ति, नागार्जुन का बेलौसपन और धूमिल की संवेदना संरचना से जुड़ी समझदारी भी। यह पूरा दौर बलदेव वंशी, वेणु गोपाल, नरेन्द्र मोहन, ज्ञानेन्द्रपति तथा उदय प्रकाश आदि की कविताओं का दौर है। यहाँ कविता जीवन की सामाजिक राजनीतिक प्रक्रिया में पूरा-पूरा हिस्सा ले रही है।

समकालीन कविता सार्थक की खोज में लगी कविता है। यह आदमी को आदमियत में देखने की एक कोशिश की है। यहाँ जमीन से जुड़ने की एक पूरी सर्जनात्मक प्रक्रिया दिखाई देती है, जिसमें समय की धड़कन साफ-साफ सुनी जा सकती है।

●

बदलते सांस्कृतिक बोध के सन्दर्भ में मुक्तिबोध का काव्य

—क्षमाशंकर पाण्डेय

साहित्य अपनी सम्पूर्ण इयत्ता में समाज एवं संस्कृति का परिचायक होता है। किसी भी अप्रतिहत गति से प्रवाहित काव्यधारा में परिवर्तन का कारण तद्युगीन परिस्थितियाँ एवं मूल्य होते हैं। रचनाकार युगीन भाव धाराओं परिस्थितियों एवं मानवमूल्यों से असंपृक्त रहकर सृजनकर्म में प्रवृत्त नहीं हो सकता। बदलती हुयी दृष्टि एवं टूटती-सिमटती सीमाओं के बीच हमारे मूल्य, मान बदल रहे हैं जो कि स्वाभाविक ही है; क्योंकि हर संस्कृति अधिक उपयोगी विकल्प के उपस्थित होने पर प्रचलित व्यवहार विधियों का त्याग कर देती है। ये विकल्प उसके आंतरिक परिवर्तन द्वारा भी उत्पन्न होते हैं और वाह्य सम्पर्क या प्रसार द्वारा भी सामने आते है।[१] इससे पूर्व कि हम परिवर्तित होते सांस्कृतिक वोध को रेखांकित करने की ओर बढ़ें हमें 'संस्कृति' एवं तद्जन्य सांस्कृतिक अवधारणाओं को जान लेना नितांत आवश्यक है।

आचार्य प्रवर हजारीप्रसाद द्विवेदी जी ने 'संस्कृति को मानव को विविध साधनाओं की सर्वोत्तम परिणति कहा है।[२] डॉ॰ देवराज के अनुसार संस्कृति का अर्थ है सृजनात्मक अनुचिन्तन; संस्कृति मानव जीवन के सर्वग्राह्य आत्मिक जीवन रूपों की सृष्टि और उपयोग है।[3] ये परिभाषायें संस्कृति के सम्बन्ध में अपनी बात रखते हुये भी पूरी तरह से स्पष्ट अवधारणा नहीं दे पातीं। पाश्चात्य विद्वानों ने अपनी परिभाषाओं में विषय को स्पष्ट करते हुये लिखा है कि संस्कृति वह जटिल इकाई है, जिसके अंतर्गत ज्ञान, विश्वास, कला, आचार, विधि, रीति, एवं अन्य क्षमतायें और अभ्यास सम्मिलित हैं, जिन्हें मनुष्य समाज के सदस्य के रूप में अर्जित करता है।[४] तात्पर्य यह कि संस्कृति सामाजिक परम्परा से

---

१. मर्डक (१९६५) : पृष्ठ १४९-५० ।
२. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी : अशोक के फूल, पृ० ६३ ।
३. डा० देवराज : संस्कृति का दार्शनिक विवेचन : पृ० ३० ।
४. टॉयलर : प्रिमिटिव कल्चर : पृ० १ ।

अर्जित चिंतन, अनुभव और व्यवहार, संक्षेप में मानसिक और क्रियात्मक व्यवहार की समष्टि है। मैलिनोव्स्की संस्कृति के अंतर्गत वंशागत शिल्प, तथ्यों, वस्तुओं, तकनीकी प्रक्रियाओं, धारणाओं, अभ्यासों एवं मूल्यों को समविष्ट करते हैं।[1] अर्थात् संस्कृति की सीमाओं में मानव के सकारात्मक विकास में सहयोगी समस्त तत्त्व समाविष्ट हो जाते हैं। परन्तु विडम्बनात्मक स्थिति यह है कि प्रायः संस्कृति को मानसिक पक्ष या मूल्यों तक ही सीमित रखा जाता है। विचारणीय है कि ये भाव या मूल्य कहाँ आरोपित होते हैं, समाज पर ही तो? अतएव समाज एवं उसकी स्थिति परिस्थिति से अलगाकर संस्कृति को निरूपित नहीं किया जा सकता। व्यक्त संस्कृति रीतियों, प्रथाओं, आचारों, कलाओं और विभिन्न प्रकार के शिल्पतथ्यों की समष्टि है। इस प्रकार सांस्कृतिक मूल्यबोध के संदर्भ में हम इन्हीं विन्दुओं पर केन्द्रित होंगे।

संस्कृति के सम्मुख जब भी अधिक उपयोगी विकल्प आये हैं वह उन्हें अपनी परिस्थितियों के अनुसार आत्मसात् करती गयी है। वह क्षेत्र चाहे धर्म का हो या दर्शन का, कला का हो या विज्ञान का, आचार व्यवहार का हो या विचार का सर्वत्र यह प्रवृत्ति मुखर दिखती है। ये विकल्प किन क्षेत्रों से या कहाँ से आते हैं यह विचारणीय नहीं होता। भारत के सन्दर्भ में यह तथ्य बड़े स्पष्ट रूप में सामने आता है कि सांस्कृतिकमूल्यों का निर्माण यहाँ किसी एक की बपौती नहीं रहा। "सम्राटों की राजधानियों में यदि कला-विलास का उत्कर्ष हुआ तो परिव्राजकों की आरण्यक कुटियों में ब्रह्म के साथ तादात्म्य की योजनाओं की स्वीकरणीयता अनुमोदित हुयी। धार्मिक विविधताओं का एक रूप गाँव के कुटीरों में विकसित हुआ तो दूसरा वृहदीश्वर के महामन्दिर में और तीसरा पुष्कर तीर्थ में। इस सांस्कृतिक साधना में ब्रह्मचारियों से लेकर संन्यासियों तथा चारों आश्रमों के लोगों का और चाण्डाल से लेकर ब्राह्मणायन का योगदान रहा है।"[2] इस तथ्य से विरत रहकर नित्य नाविन्य एवं उत्कर्षापेक्षी साहित्य ने संस्कृति को एक वर्ग विशेष की क्रोड का खिलौना एवं अरूप बनाने की श्रम-सिद्धि समझी। आधुनिक साहित्यिक एवं सांस्कृतिक परिदृश्य का सिंहावलोकन करने पर हम पाते हैं कि अर्जन वर्जन की प्रक्रिया से गुजरता हुआ सांस्कृतिक वृत्त आज उस मुकाम पर खड़ा है, जहाँ वह अधिक मानवीय एवं जीवनोन्मुख

---

१. मैलिनोव्स्की : इनसाइक्लोपीडिया ऑफ सोशल साइंसेज, पृ०, ६२१।

२. डा० रामजी उपाध्याय : भारत की संस्कृति साधना : (भूमिका) पृ०१।

हैं। जीवन अपने कटुताओं एवं मधुरताओं के विभिन्न बहुरंगी स्वरूप में उसका वर्ण्य है। प्राचीन गौरव के सकारवादी पक्ष जो वैश्विक दृष्टि एवं मानवता से जोड़ते हैं वे ही उसे ग्राह्य हैं। वैज्ञानिक दृष्टि के कुप्रभाव एवं सुप्रभाव तथा जटिल होते जा रहे जीवन सम्बन्ध संस्कृति को पूरी तरह प्रभावित कर रहे हैं। आध्यात्मिकता से पराङ्मुख होते हुए भौतिकता के प्रबल आग्रहवादी मूल्य; ढेर सारे मानवीयमूल्यों को तोड़ते हुए एक छद्म संस्कृति को निर्मित कर रहे हैं।

भारतीय संस्कृति के नाम पर दिये जा रहे साहित्यिक धोखे की ओर मुक्तिबोध ने बड़ी ईमानदारी से संकेत किया है कि "आज भारतीय संस्कृति का नारा उन लोगों का है जो जनता के क्रान्तिकारी दृष्टिकोण को रूसी दृष्टिकोण कहकर लोगों का ध्यान वर्तमान जन-जीवन के यथार्थ तकाजों से हटाते हुए उन पुराने मायालोकों में अटकाना चाहते हैं जहाँ आध्यात्म और विलास परस्पर, चुम्बन-आलिंगनादि में व्यस्त हैं। यदि भारतीय संस्कृति का अर्थ जनता के अपने तकाजों और सवालों के आधार पर उसको सुसंस्कृत करना होता तो वह नारा कभी गलत नहीं होता। किन्तु बात इससे बिल्कुल उल्टी है।"[१] मुक्तिबोध का रचनाकाल १९३६ से १९६४ तक रहा है। तद्युगीन संस्कृति में दर्शन के क्षेत्र में अरविन्द का दर्शन भारतीय दृष्टि से अधिक प्रभावी रहा है, जहाँ वे असीम सत्ता की स्वीकृति इस जमीन के साथ जोड़कर ही देते हैं। राजनैतिक जागरण की एक तीव्र आँधी चली है, जिसे मुक्तिबोध सांस्कृतिक उत्थान का एक पक्ष स्वीकारते हैं।[२] विश्वजनीन मानवीय दृष्टि भी वर्तमान सांस्कृतिकबोध का एक बिन्दु है। बनते बिगड़ते राजनैतिक चरित्र, आध्यात्म की जगह भौतिकता का आग्रह, विज्ञान की बढ़ती प्रगति एवं तद्जन्य प्रभाव भी इसी सीमा में आगत हैं। संस्कृति के कायिक रूप समाज की स्थिति को रेखांकित करते हुए मुक्तिबोध लिखते हैं कि "समाज भयानक रूप से विषमताग्रस्त हो गया है। चारों ओर नैतिक ह्रास के चिह्न दिखायी दे रहे हैं। शोषण और उत्पीड़न पहले से बहुत अधिक बढ़ गये हैं। नोच-खसोट, अवसरवाद-भ्रष्टाचार का बाजार गर्म है। कल के मसीहा आज के उत्पीड़क हो उठे हैं। आध्यात्मवादी विचारक जनता से दूर जा बैठे हैं....मानव सम्बन्ध टूट फूट गये हैं, उलझ गये हैं।"[३] ऐसी स्थिति

---

१. मुक्तिबोध रचनावली : भाग ५, पृ० २८४।
२. „ „ „ „ पृ० २८१।
३. „ „ „ „ पृ० १९१।

संस्कृति के सर्वाधिक मुखर रूप साहित्य एवं कला को भी जीवन से काटने की साजिश बराबर रही है। हर युग में समांतर रूप से दो संस्कृतियाँ बनती रही हैं। वर्गों में विभक्त समाज संस्कृति के संस्कृतजन्य अभिघात्मक अर्थग्रहण से मात्र आभिजात्य संस्कृति को ही आरोपित करता रहा है। इस उद्दाम वेग में लोकसंस्कृति के रूप में प्रवहमान उसकी प्राणधारा प्रायः उपेक्षित होती गयी है। पर स्वातंत्र्योत्तर साहित्य प्रायः उस ओर देखता हुआ लोकजीवन के प्रश्नों से जुड़ता है। जब-जब परिष्कार की आवश्यकता महसूस हुई है, बराबर हमें अपने मूलस्रोतों से ही प्राणशक्ति ग्रहण करनी पड़ी है। संक्रमित होती जा रही संस्कृति के विकासमान मूल्य अंधी दौड़ में विवेक कायम न रख पाने की भी भूल कर रहे हैं, तथापि इन खतरों और सेंसर्स से टकराकर पहल करने वाला रचनाकार ही वरेण्य होता है।

मुक्तिबोध के काव्य में सांस्कृतिक मूल्यबोध की खोज से पूर्व महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि वे काव्य को सांस्कृतिक प्रक्रिया मानते हुये अपना पक्ष स्पष्ट कर देते हैं कि "काव्य रचना केवल व्यक्तिगत मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया नहीं, वह एक सांस्कृतिक प्रक्रिया है।""उसमें जो सांस्कृतिक मूल्य परिलक्षित होते हैं वे व्यक्ति की अपनी देन नहीं समाज या वर्ग की देन हैं।"[1] अतएव संस्कृति एवं तद्जन्य मूल्यमानों से जुड़े सवाल आकांक्षाएँ आदि उनके काव्य में प्रभूत परिमाण में उपलब्ध होती हैं। उनके चिंतन के केन्द्र में समाज, उसके दुःख दर्द, उसकी स्थिति आदि ही रहे हैं। इस हिसाब से जो भी दर्शन उपयुक्त पड़ा उन्होंने उसे स्वीकारा है। इस दृष्टि से उनके सबसे करीब मार्क्सवादी दर्शन रहा है। वे बराबर एक वर्गरहित और शोषणरहित समाज की स्थापना के लिए लालायित थे। उनके अनुसार मानवीय समाज संस्कृति एवं जीवनदृष्टि को जीवनमूल्यों से जोड़ना आवश्यक है। स्वार्थ, संकीर्णता और सुखसुविधाओं के मलवे को हटाना पड़ेगा। इसी तथ्य के वृहत्तर आयाम का प्रस्तुतीकरण उनका काव्य करता है। वे स्पष्ट कहते हैं—

"समस्या एक
मेरे सभ्य नगरों और ग्रामों में
सभी मानव

---

१. मुक्तिबोध रचनावली : भाग ५, पृ० १९५।

सुखी सुन्दर व शोषण मुक्त
कब होंगे ?''[१]

इस वर्गहीन समाज का निर्माण और जीवनमूल्यों की प्रतिष्ठा तभी सम्भव है, जब शोषण और स्वार्थ के हथियारों का सफाया हो जाय, कारण—''शोषण की अतिमात्रा / स्वार्थों की सुखयात्रा / जब-जब सम्पन्न हुयी / आत्मा से अर्थ गया, मर गयी सभ्यता।''[२] इसीलिए भीतर और बाहर दलिद्दर, शोषण, अत्याचार और जड़ता से मुक्ति पाने के प्रश्न पर पुनर्विचार करते हुये लिखते हैं, ''मेरे सामने हैं प्रश्न / क्या होगा कहाँ किस भाँति / मेरे देश भारत में / पुरानी हाय में ले / किस तरह आग भड़केगी / उड़ेगी किस तरह भक से / हमारे वक्ष पर लेटी हुयी। विकराल चट्टानें।''[३] उनके अनुसार जब तक पूँजीवादी मनोवृत्ति की पूँछ पकड़कर जीनेवाले अवसरवादी बदल नहीं जाते तब तक वर्गहीन समाज स्थापना का स्वप्न पूरा नहीं हो सकता। इसलिए वे कह गये कि ''वर्तमान समाज में चल नहीं सकता / पूँजी से हुआ हृदय बदल नहीं सकता / स्वातंत्र्य व्यक्ति का वादी / छल नहीं सकता मुक्ति के मन को जन को।''[४] इसीलिये वे उनकी निन्दा करते हैं।

सच्चे अर्थों में वे जीवनमूल्यों की स्वस्थ परम्परा के कवि थे। पूँजीवादी संस्कृति और सभ्यता बराबर उनके आक्रोश का लक्ष्य रहे हैं। 'मुझे याद आते हैं', 'पूँजीवादी समाज के प्रति' आदि कविताओं में तद्जन्य नागरिक सभ्यता के खोखले दोगलेपन को विचित्र कर वे टेढ़े मुँह चाँदनी की शापित चाँदनी को घृणा का पात्र बनाते हैं। शोषक के रूप को बर्बर खूनी चेहरे, कंस के क्रूर चरित्र, यातुधान आदि स्वरूपों से ही वे अंकित करते हैं। सर्वहारा का अभिषेक सहानुभूति के जल से करते हुये वे उसे ऊँचा उठाने के आकांक्षी हैं। संयुक्त परिवार की टूटती मूल्यों वाली संस्कृति की विभिषिका यहाँ मुखर हो उठी है, / अजीब संयुक्त परिवार है / औरतें व नौकर व मेहनतकश / अपने ही वक्ष को खुरदरा वृक्ष घड़ ''मानकर घिसती हैं, घिसते हैं / अपनी छाती पर जबर्दस्ती विषन्दती भावों का सर्पमुख / बहुएँ मुंडेरों से कूद अरे आत्महत्या करती हैं।''[५]

१. मुक्तिबोध : चाँद का मुँह टेढ़ा है : पृ० १६४।
२. ,, ,, ,, : पृ० १९८।
३. ,, ,, ,, : पृ० १५९।
४. ,, ,, ,, : पृ० ३१०।
५. ,, ,, ,, : पृ० ६२।

वे शोषित दमित वर्ग के प्रति आत्मीय होकर करुणार्द्र हो गये हैं "गिरस्तिन मौन माँ बहनें सड़क पर देखती हैं / भाव मंथर काल पीड़ित ठठरियों की श्याम गो यात्रा / उदासी से रंगे गंभीर मुरझाये हुये प्यारे, गऊ चेहरे निरखकर / पिघल उठता है मन"[१] उनके काव्य में शहरी संस्कृति के तेलिया लिवास पहने मजदूर, बलात्कृत नरियाँ, शोषित मजदूर नारियाँ, शहरी छद्म सब अपनी पूरी विभीषिका के साथ संस्कृति का परिवर्तित बोध लिए वर्तमान हैं। परन्तु सारी सच्चाई, मानवता एवं दर्शन उन्हें भारतीय जमीन पर ही स्वीकार है। वे स्पष्ट कहते हैं। "अपनी भूमि और देश की मिट्टी में रंगकर ही विश्वात्मक हुआ जा सकता है, नहीं तो नहीं।"[२]

मानव और मानवतावाद उनके पूरे चिन्तन में प्रभावी रहे हैं। उनसे सहानुभूति रखते हुए वे 'एक साहित्यिक की डायरी' में कहते हैं कि "·····मैं उस श्रम का चित्रण करना चाहता हूँ जिसका बदला कभी नहीं मिलता और जिसे आये दिन आत्म बलिदान और त्याग की नसीहत दी जाती है।"[३] वर्ग संघर्ष और क्रांतिचेतना का मुखर स्वर उनके यहाँ वर्तमान है, उनकी दृष्टि द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी है और जीवनादर्श सामाजिक आर्थिक परिवर्तन और उसकी वाहक जनक्रांति। आधुनिक संस्कृति के पूरे छद्म से वे परिचित हैं। 'अँधेरे में', 'भूल-गलती, 'चाँद का मुंह टेढ़ा है', 'डूबता चाँद कब डूबेगा' आदि कविताओं में उन्होंने नागरिक संस्कृति के खोखलेपन और ग्रामीण संस्कृति की अर्थवत्ता को पूर्णतया स्पष्ट किया है। 'मुझे याद आते हैं' का आवरणयुक्त नागर संस्कृति का चित्र द्रष्टव्य है—

"पाउडर में सफेद अथवा गुलाबी / छिपे बड़े-बड़े चेचक के दाग मुझे दीखते हैं / सभ्यता के चेहरे पर / संस्कृति के सुवासित आधुनिकतम वस्त्रों के / अन्दर का वासी वह / नग्न आते बर्बर देह / सूखा हुआ रोगीला पंजर मुझे दीखता है।[४]

वे पहचान रहे थे कि आधुनिक संस्कृति के प्रभाव में लोग स्वार्थान्ध हो रहे हैं। क्षुद्र स्वार्थों के हित आत्मा बेचनेवालों को तो वे फटकारते हैं कि

---

१. मुक्तिबोध : चाँद का मुँह टेढ़ा है : पृ० ९२।
२. मुक्तिबोध रचनावली भाग ५, पृ० ३१५।
३. मुक्तिबोध : एक साहित्यिक की डायरी : पृ० ४९।
४. मुक्तिबोध : चाँद का मुह टेढ़ा है : पृ० ७९।

"उदरभरि वन गये / भूतों की शादी में कनात से तन गये / किसी व्यभिचारी के वन गये विस्तर।"[1] रक्तपायी वर्ग से नाभिनालवद्ध लोगों पर उनकी कलम वरावर आग उगलती रही है। छद्म राजनीतिक चरित्र को उजागर करते हुये वे कहते हैं कि

'श्वेत वर्फ की टोपी पहने
हुआ हिमालय हर एक टीला।'[2]

संस्कृति में आगत मार्शल लॉ, दमनचक्र, दलवदल, अनैतिकता प्रभृति सारे चरित्र वहाँ आत्मसात हैं। वैज्ञानिकता इतनी कि प्रॉक्सिमा, सेंटारिस और नेव्यूला तक जाने की वात करते हैं। विश्वात्मक इतने कि लाओस, क्यूवा, पर्सिपोलिस आदि हर जगह की घटनाएँ उन्हें उद्वेलित करती हैं। अपनी सम्पूर्ण प्रगतिशीलता के वाद भी वे प्राचीन संस्कृति के सकारात्मक मूल्यों की उपेक्षा कभी नहीं करते। आस्था और जिजीविषा जैसे सांस्कृतिक मूल्य पूरी ईमानदारी से उनके यहाँ मिलते हैं, जिसके वल पर वे कहते हैं—

कोशिश करो / कोशिश करो / जीने की / जमीन में गड़कर भी /

× × ×

जमीन में गड़े हुए देहों की खाक से / शरीर की मिट्टी से, धूल से / खिलेंगे गुलावी फूल।[3]

उनके आस्थावाद में ही उनकी मानवतावादी दृष्टि निहित है। उनका मानवतावाद मात्र सहानुभूति तक न रहकर मानवमुक्ति तक फैल गया है। वे न तो कभी हारे, न थके, न कभी निराश हुए। तमाम संघर्षों, पीड़ाओं और त्रासद स्थितियों को झेलते हुए भी वे "दूर-दूर मुफलिसी के टूटे-फूटे घरों में सुनहले चिराग'[4] देखने वढ़ते ही जाते हैं।

शोषण के परिणाम से वनी संस्कृति का छद्म प्रभाव एवं स्वरूप उनके सामने पूरी तरह साफ हैं। मानवीय संकट को वे परिस्थितियों का दवाव मानकर चले और संकटवोध को परिवेश का दवाव स्वीकारा। ऐसा दवाव

---

१. मुक्तिवोध : चाँद का मुँह टेढ़ा है : पृ० २७७।
२. मुक्तिवोध रचनावली भाग २, पृ० ३२४।
३. मुक्तिवोध : चाँद का मुँह टेढ़ा है : पृ० ६४-६५-६६।
४. ,, ,, ,, पृ० ८०-८१।

जिसने वर्तममान को खा लिया है—

"आज के अभाव के व कल के उपवास के
व परसों की मृत्यु के.......
दैन्य के महा अपमान के व क्षोभपूर्ण
भयंकर चिंता के उस पागल यथार्थ का
दीखता पहाड़
स्याह"[१]

इस प्रकार आत्मान्वेषण से आत्मपरिष्कार तक की यात्रा तय करते हुए मुक्तिबोध के काव्य में संस्कृति के पूरे चरित्र स्पष्ट हैं। जहाँ उपयोगी प्रगतिशीलता को स्वीकारा गया है, वहीं प्राचीन संस्कृति के गौरवपूर्ण एवं उपयोगी तत्त्व भी ग्राह्य हैं। नचिकेता से लेकर गांधी, तिलक, शुनःशेष टालस्टाय, भैरव, बरगद, ब्रह्मराक्षस तक उनकी आस्था का विस्तार है। वे वही कला, संस्कृति एवं दर्शनश्लाघ्य मानते हैं, जो जनचरित्र एवं मानवता को ऊँचा उठाने में सहायक हो। वे आज के कवि चरित्र के लिए आवश्यक मानते हैं कि "आज ऐसे कविचरित्र की आवश्यकता है जो मानवीय आवश्यकता का बौद्धिक और हार्दिक आकलन करते हुए, सामान्य जनों के गुणों और संघर्षों से प्रेरणा और प्रकाश ग्रहण करे, उसके संचित जीवन विवेक को तथा स्वयं ग्रहण को अधिक निखारकर कलात्मक रूप में उन्हीं की चीज उन्हें लौटा दे।"[२] पूरी ईमानदारी का आदर्श देनेवाले मुक्तिबोध का काव्य पूर्णतया बदले हुए सांस्कृतिक बोध का परिचायक है।

●

---

१. मुक्तिबोध : चाँद का मुँह टेढ़ा है : पृ० ७६।
२. मुक्तिबोध रचनावली भाग—५, पृ० १९७।